ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, अक्टूबर १९४१ सौर आश्विन १९९८ { संख्या ३
पूर्ण संख्या १८३

श्रीमद्भागवत

कह्यो सुक श्रीभागवत बिचार ।
हरिकी भगति जुगै जुग बिरचै, आन धर्म दिन चार ॥
चिंता तजौ परीच्छित राजा, सुनि सिख साखि हमार ।
कमलनैनकी लीला गावत, कटत अनेक बिकार ॥
सतजुग सत, त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चार ।
सूर भजन कलि केवल कीजै लज्जा-कान निवार ॥

—सूरदासजी

मनको उपदेश

मन रे, माधव सौं करि प्रीति।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तू छाँड़ि सबै बिपरीति॥
भौंरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, कमल बँधावै आप॥
सुनि परमिति पिय प्रेमकी, चातक चितवन पारि।
घन-आसा सब दुख सहै, अनत न जाँचै बारि॥
देखौ करनी कमलकी, कीन्हौं रवि सौं हेत।
प्रान तज्यौ, प्रेम न तज्यौ, सूख्यौ सलिल समेत॥
दीपक पीर न जानई, पावक परत पतंग।
तनु तौ तिहिं ज्वाला जरयौ, चित न भयौ रस-भंग॥
मीन बियोग न सहि सकै, नीर न पूछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहिं, रति न घटै तन जात॥
परनि परेवा प्रेमकी, चित लै चढ़त अकास।
तहँ चढ़ि तीय जो देखई, भूपर परत निसास॥
सुमिरि सनेह कुरंग कौ, स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनौ, सर सनमुख उर लाग॥
देखि जरनि, जड़, नारिकी, जरति प्रेतके संग।
चिता न चित फीकौ भयौ, रची जु पिय कैं रंग॥
लोक-वेद बरजत सबै, देखत नैननि त्रास।
चोर न चित चोरी तजै, सरबस सहै बिनास॥
सब रस कौ रस प्रेम है, बिषयी खेलै सार।
तन-मन-धन-जोबन खसै, तऊ न मानै हार॥
तैं जो रतन पायौ भलौ, जान्यौ साधि न साज।
प्रेम-कथा अनुदिन सुनै, तऊ न उपजै लाज॥
सदा सँघाती आपनौ, जिय कौ जीवन-प्रान।
सु तैं बिसारयौ सहज हीं, हरि, ईस्वर, भगवान॥
वेद, पुरान, सुमृति सबै, सुर-नर सेवत जाहि।
महा मूढ़ अज्ञान मति, क्यौं न सँभारत ताहि?
खग-मृग-मीन-पतंग लौं, मैं सोधे सब ठौर।
जल-थल-जीव जिते तिते, कहौं कहाँ लगि और॥
प्रभु पूरन पावन सखा, प्राननि हूँ कौ नाथ।
परम दयालु कृपालु है, जीवन जाकैं हाथ॥
गर्भ-बास अति त्रास मैं, जहाँ न एकौ अंग।
सुनि सठ, तेरौ प्रानपति, तहउँ न छाँड़यौ संग॥
दिन-राती पोषत रह्यौ, जैसैं चोली पान।
वा दुख तैं तोहिं काढ़ि कै लै दीनौ पय-पान॥
जिन जड़ त चेतन कियौ, रचि गुन-तत्त्व-बिधान।
चरन, चिकुर, कर, नख, दए, नयन, नासिका, कान॥
असन, बसन बहु बिधि दए, औसर औसर आनि।
मातु-पिता-भैया मिले, नई रुचि नई पहिचानि॥
सजन कुटुँब परिजन बढ़े, सुत-दारा-धन-धाम।
महामूढ़ बिषयी भयौ, चित आकाष्यौं काम॥
खान-पान-परिधान मैं, जोबन गयौ सब बीति।
ज्यौं बिट पर-तिय सँग बस्यौ, भोर भए भइ भीति॥
जैसैं सुखहीं तन बढ़यौ, तैस तनहिं अनंग।
धूम बढ़यौ, लोचन खस्यौ, सखा न सूझ्यौ संग॥
जम जान्यौ, सब जग सुन्यौ, बाढ़यौ अजस अपार।
बीच न काहू तब कियौ, दूतनि दीन्हीं मार॥
कहा जानै कैवाँ मुवौ, ऐसैं कुमति, कुमीच।
हरि सौं हेत बिसारि कै, सुख चाहत है नीच॥
जौ पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार?
एकहु आँक न हरि भजे, रे सठ, सूर गँवार॥

श्रीमद्भागवतमें 'आश्रय'

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

लोकमें 'आश्रय' शब्दका अर्थ 'आसरा' प्रसिद्ध है। किन्तु संस्कृतमें 'आश्रय' शब्दका एकार्थक 'शरण' शब्द भी है। श्रीमद्भागवतमें सब प्रकारसे 'आश्रय' का ही निरूपण है। श्रीमद्भागवतका शास्त्रीय दूसरा नाम नवलक्षण भी है। और भागवतका प्रतिपाद्य विषय भगवान् श्रीकृष्ण ही है, आश्रय है, शरण है।

'नवलक्षणलक्ष्यो हि;' 'नवानामिह लक्षणम्।'

अप्रकट परब्रह्म पुरुषोत्तम है, और प्रकट परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। वस्तुरूपसे दोनों एक ही पदार्थ हैं। यही आश्रय-वाच्य है।

> **आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।**
> **स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥**
> (श्रीमद्भा० २। १०। ७)

यह आश्रय दो प्रकारका है—'साधनाश्रय' और 'फलाश्रय'। इस श्लोकमें मुख्यतया 'फलाश्रय' का और गौणरीतिसे 'साधनाश्रय' का भी निरूपण है। वह लक्षण-रूपसे साधनाश्रय है और लक्ष्यस्वरूपसे फलाश्रय है। 'शरणं गृहरक्षित्रोः।' 'शरण' शब्दका भी दो प्रकारका अर्थ है—'घर' और 'रक्षा करनेवाला'। घर फलाश्रय है, और रक्षा करनेवाला साधनाश्रय है। विदेशसे घर चले। घर पहुँचना फल है और इसके पूर्व जितनी क्रियाएँ कीं, वे साधन हैं, पर इनका भी आसरा तो लेना ही पड़ता है। इसलिये गृह फलाश्रय है, रक्षा करनेवाले साधनाश्रय हैं।

इस श्लोकमें फलाश्रयका मुख्य निरूपण है। घर ही आभास है, घर ही निरोध। मिट्टी ही घड़ेका आभास है और मिट्टी ही घड़ेका निरोध। कुम्हार इस प्रकार मिट्टीके गोलेको लिये दिनभर आभास-निरोधका खेल किया करता है। इसी तरह भगवान् पुरुषोत्तम ही प्रकृति-पुरुषके गोले (अक्षरब्रह्म) को लिये त्रिविध विश्वका आभास (उत्पत्ति) और निरोध (प्रलय)-रूप खेल किया करते हैं। इसलिये पुरुषोत्तम ही इस विश्वके आश्रय हैं। इस आश्रयको कहीं 'पर', कहीं 'ब्रह्म' और कहीं 'परमात्मा' कहते हैं। 'शब्द्यते'—अर्थात् शब्दमें ही भेद है, वस्तु सब एक ही हैं।

उपनिषदोंमें इस आश्रयको 'ब्रह्म' कहा है और उसका अर्थ किया है 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' अर्थात् सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्म है—भगवान् है। जिसे हम जड-जगत् समझ रहे हैं, वह सद्ब्रह्म है। जिसे हम अक्षर, जीव ज्ञान आदि पदार्थ समझ रहे हैं वह चिद्ब्रह्म है। और जिसे हम 'लौकिक सुख', 'स्वर्गसुख' और 'मोक्षसुख' शब्दोंसे पहचान रहे हैं वह आनन्दब्रह्म है। सार यह कि वह सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम ही सब कुछ है और वही सब कुछका आश्रय भी है।

सृष्टिके प्रारम्भमें ये देखे-सुने जाते सच्चिदानन्द (विश्व) उसी पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दमें पैदा हुए हैं, स्थिति-अवस्थामें ये उस व्यापक सच्चिदानन्द पुरुषोत्तममें रहते हैं, और अन्तमें उसीमें एकताको प्राप्त होंगे। यह आविर्भाव-तिरोभाव ही आभास-निरोध है, और आभास्य-निरोध्य (जगत्) भी वही है। तीनों अवस्थाओं-में इस (परिच्छिन्न) सत्-चित्-आनन्द (विश्व) का वह (अपरिच्छिन्न) सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम ही आश्रय है।

व्यापक अपरिमेय सच्चिदानन्द पुरुषोत्तममेंसे जब इन परिच्छिन्न सच्चिदानन्दोंका व्युच्चरण (पृथग्भाव) होता है, तब भगवदिच्छासे ही भगवन्मायाके द्वारा इनमें कुछ अशुद्धि (दोष) आ जाती है। इस अशुद्धिको विपर्यय (उलटी समझ) कहते हैं। सृष्टिकी तरह यह विपर्यय भी भगवान्की लीला है। भगवान्की लीलाएँ

अनन्त हैं। ये सब दो प्रकारकी हैं,—शुद्ध और अशुद्ध। घबड़ाना नहीं, शुद्ध भी भगवान् है और अशुद्ध भी भगवान् ही—'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्।' शुद्धि-अशुद्धि हमारी दृष्टिसे है। हमने पुरुषोत्तमपदार्थोंमें ही अपना व्यवहार चलानेके लिये शुद्धि-अशुद्धि बना ली हैं, वास्तवमें सब कुछ पुरुष-ही-पुरुष है।

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
.......................................॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
.......................................॥

(श्रीमद्भा० ११। २१। ३-४)

मायाके सहयोगसे जो लीलाएँ होती हैं, वे अशुद्ध हैं। और जो केवल अपने स्वरूपसे होती हैं, वे शुद्ध हैं। पर शुद्ध लीलाओंसे व्यवहार नहीं चलता। इस समय यह जीव अशुद्ध लीलामें है। 'परिच्छेद' अशुद्धि नहीं है, किन्तु 'विपर्यय' अशुद्धि है; क्योंकि परिच्छेद-लीला स्वरूपसे है, और विपर्यय मायाके सहयोगसे। अशुद्धसे शुद्ध हो जाना मुक्ति है, चाहे वह फिर परिच्छिन्न ही रहे। इसीसे जीवन्मुक्ति बन सकती है। यह एकादश स्कन्धमें है। और प्रत्यापत्तिरूप आश्रय द्वादश स्कन्धमें है। जो वस्तु जहाँसे निकले, वह फिर वहीं पहुँच जाय—यह प्रति-आपत्ति प्रत्यापत्ति कही जाती है। वास्तवमें मुख्य दो ही लीलाएँ हैं, 'आभास' और 'निरोध'—दीखने लग जाना और दीखना बंद हो जाना। अतएव सर्ग-विसर्ग आदि नौ लीलाओंका दशम आश्रय है। श्रीपुरुषोत्तम दशम पदार्थ है और नव पदार्थ उसकी लीला हैं। आभास और निरोधमें ही नौ लीलाएँ अन्तर्भूत हैं।

सुवर्णसे गहने बनते हैं, इसका अर्थ है—सुवर्णमें ही कुछ रूपाकार दीखने लग जाना। रूपाकार असत्य नहीं हैं। वे भी सुवर्ण ही हैं, सुवर्णमें ही छिपे हुए थे। क्रियाके द्वारा दीखने लगे हैं। बस, इसी तरह छिपे हुए किसी रूपका दीखने लग जाना ही आभास है। ब्रह्मसे ही ब्रह्ममें ही विश्वका 'आभास' होता है और उसीसे उसीमें छिप जाना 'निरोध' है। इसलिये वह परब्रह्म ही सबका आश्रय है।

आविर्भावको 'आभास' कहते हैं और तिरोभावको 'निरोध'। यह इसलिये कि तीनों तरहकी सृष्टिका समावेश हो जाय। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक—तीन तरहका विश्व है। इन तीनोंका एकत्र समावेश करनेके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है। आभास और निरोध कह देनेसे स्थिति अपने-आप आ जाती है। प्रकट सत्ताविशेषोंका नाम ही तो स्थिति है। घटसत्ता, पटसत्ता आदि ही स्थिति कही जाती है। इस तरह पूर्वोक्त आविर्भाव-तिरोभाव, आभास-निरोध, किंवा उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय—ये सब जहाँसे जिसमें होते रहते हों, वह है आश्रय। सच्चिदानन्द भगवान् पुरुषोत्तम ही सबका आश्रय है। व्यापक एक रूपसे भी आश्रय है और परिच्छिन्न अनन्त रूपोंसे भी आश्रय है। क्रिया (सत्) रूपसे भी आश्रय है, ज्ञान (चित्) रूपसे भी आश्रय है और प्रेम (आनन्द) रूपसे भी आश्रय है।

आश्रय लीला भी है और लीलाओंका आधार भी। सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—ये दस लीलाएँ श्रीभागवतके तृतीयसे लेकर द्वादशतक दस स्कन्धोंमें कही गयी हैं। अधिकार और साधन दो गौण लीलाएँ भी हैं, जो प्रथम और द्वितीय स्कन्धमें कही गयी हैं। शब्दरूप श्रीमद्भागवत लक्षण-ग्रन्थ है और भगवान् इसका लक्ष्य है। और मुक्त्यन्त नौ लीलाएँ रूपात्मक लक्षण हैं। जिसके द्वारा किसीका ग्रहण कर सकें, उसे लक्षण कहा जाता है; और जिसका ग्रहण किया जाय; वह

१. इन लीलाओंका विस्तारसे स्पष्टार्थ द्वितीय स्कन्धके भाषान्तरमें देखिये।

'लक्ष्य' है। श्रीमद्भागवत किंवा सर्गादि नौ लीलाएँ लक्षण हैं तो श्रीपुरुषोत्तम इनका लक्ष्य है। नौ लीलाओंके द्वारा दशम आश्रयको समझना है, पकड़ना है। इसीको विशुद्धि कहते हैं। विशेषेण द्वारेण शुद्धिः—विशुद्धिः। किन्हीं विशेषोंके द्वारा उस दशम पदार्थको शोध लेना, ढूँढ़कर पकड़ लेना ही यहाँ 'विशुद्धि' है। इस विशुद्धिका इतिकर्तव्य ही श्रीभागवत है। अनन्त रहते भी भगवान्‌की नौ लीलाएँ मुख्य हैं।

सुवर्णकी भी अनन्त अचिन्त्य लीलाएँ हैं। अनादिकालसे आजतक और आजसे अनादिकालतक अनन्त सुनार इस सुवर्णकी लीलाओंको प्रकट करते रहे हैं और रहेंगे; परन्तु इसकी लीलाओंका अन्त नहीं आयेगा और न उनको यह मालूम हो सकेगा कि अभी इसमें कितनी लीलाएँ और समायी हुई हैं। गहनोंका समूह ही सुवर्णके विशेष हैं। और ये ही लीलाएँ हैं। किन्तु उन अनन्तोंको नौ लीलाओंमें समेट लीजिये। थोड़ी देरके लिये मान लें कि १—छोटा होना, २—बड़ा होना, ३—गोल हो जाना, ४—चौखूट हो जाना, ५—तिखूट ही रह जाना, ६—उजेला (चमकना—लाइट), ७—अंधेरा (न चमकना—शेड), ८—भारीपन और ९ तापसे भी नष्ट न होना,—ये सुवर्णकी नौ लीलाएँ प्रधान हैं। ये ही परस्पर मिलकर अनन्त हो सकती हैं। इन लीलाओंको समझते हुए सुवर्णको समझ लेना ही वास्तवमें विशुद्धि है। वि—विशेष—लीलाएँ, इनके द्वारा सुवर्णका शोध, वहाँतक पहुँच जाना 'विशुद्धिः' 'विशेषेण द्वारेण शुद्धिः' है। गहनोंमें पूर्वोक्त सुवर्णकी लीलाएँ ही गहनोंके रूप हैं। किन्तु स्वस्वरूप तो सुवर्ण ही है। दशम पदार्थ लक्ष्य, ग्राह्य तो सुवर्ण ही है। यही बात संक्षेपसे इस प्रकार समझायी गयी है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

विशेषोंके द्वारा शुद्धि करनी है। दुनियाके सभी पदार्थ अपना-अपना विशेष (कोई विशेष भेद) पृथक्-पृथक् रखते हैं। यदि किसीमें कुछ भी विशेष (फरक) न हो, तो फिर कोई भी पदार्थ समझमें ही न आये। अपने-अपने विशेषोंसे ही वे अलग-अलग समझमें आ रहे हैं। इसी न्यायसे कहना होगा कि आश्रयसहित सर्गादि पदार्थों (लीलाओं) के भी विशेष होंगे ही। उनमें आश्रय दशम पदार्थ है।* यही लक्ष्य है, वही सबका आत्मा है। जो सबमें फैलकर रहता है, वह आत्मा है। जब यही अपने सब धर्मोंमें फैलकर बैठा है, तब सब धर्म भी उसीके हैं—यह मानना पड़ेगा। नौ लीलाओंके विशेष और उसके अपने विशेष—दोनों तरहके विशेष यद्यपि उसके ही हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् बँट रहे हैं। आश्रयके सब-के-सब विशेष एक ही समयमें एक उसीमें प्रकट रूपसे आ नहीं सकते, दीख नहीं सकते। गहनोंके सहस्रों विशेष, सुवर्णकी ही लीलाएँ हैं, सुवर्णके ही विशेष हैं; पर वे सब-के-सब एक ही समय एकहीमें दीख नहीं सकते। अतएव वे पृथक्-पृथक् गहनोंमें पृथक्-पृथक् दीखते हैं। यही बात सुवर्णमें भी है। इसीसे द्रष्टा लोग गहनोंके विशेषोंको गहनोंके ही विशेष मान बैठे हैं, और गहनोंको आश्रय सुवर्णसे पृथक् अन्य पदार्थ मान बैठे हैं। अस्तु, कुछ भी हो—आश्रयके विशेष पृथक् हैं, और लीलाओंके विशेष पृथक् हैं।

किन्तु बात यह हो रही है कि सुवर्ण अपने गहने वगैरह विशेषोंमें घुसकर उनमें ऐसा घुल-मिल गया है कि अब इस अवस्थामें उसे ढूँढ़ निकालना काम

---

* दशमोऽत्राऽऽश्रयः। तस्य विशेषेण शुद्धिः। सर्वत्रैव हि पदार्थे दश धर्माः सन्ति भगवद्रूपाः। तत्रैको ग्राह्योऽन्ये तु त्याज्याः। तत्र ते यदि न निरूपिता भवन्ति ग्राह्यत्याज्यविवेको न भवति। अतो यावद्दूरं गुणसम्बन्धः स त्याज्यः। भगवदाश्रये व्यभिचारापत्तेः। अनन्याश्रयभङ्गश्च। अत उत्तरोत्तरा एते धर्मा भवन्तीति यः पर्यवसानेऽवशिष्यते स ग्राह्य इति तुषादिवदाश्रयावरकत्वेनैते धर्माः प्रतिपाद्यन्ते।
(श्रीमद्भा० सुबोधिनी २ स्क०)

रखता है, समझदार लोग भी कभी-कभी भूलकी चपत खा जाते हैं। सुवर्णको गहना ही कह बैठते हैं। यही बात आश्रयमें है—

सर्गादि नौ लीलाएँ आश्रयके ही विशेष हैं—धर्म हैं, किन्तु आश्रय अपनी लीलाओंमें घुसकर ऐसा घुल-मिल गया है कि अब इस जगदवस्थामें उसे ढूँढ़ निकालना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी मायाकी चपत खा बैठते हैं।

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
(श्रीमद्भा० १० स्कं०)

जिस तरह मेघ सूर्यसे ही पैदा होते हैं, सूर्यके प्रकाशसे ही उनके दर्शन होते हैं और एक समय वे सूर्यमें ही समा जाते हैं; तथापि वे इतने जबरदस्त हो जाते हैं कि सूर्यको ढक देते हैं। मेघोंमें आ जानेसे सूर्यका कहीं पता नहीं मिलता। इसी तरह सर्गादि नौ लीलाएँ जो विश्वके रूपमें फैली हुई हैं, उनके भीतर प्रवेश कर या सर्वदा विद्यमान वह आश्रय इतना छिप गया है कि कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता। उसीसे पैदा हुई, उसीमें रहती हुई और उसीमें एक दिन समा जानेवाली लीलाओंने (विश्वने) उसे ढक दिया है। उसे ढूँढ़कर निकालना है, उसकी प्राप्ति करनी है। यही उसकी विशुद्धि है।

विशेषोंके द्वारा ग्राह्य-त्याज्य विभाग कर लेनेका नाम ही विशुद्धि है। उन-उनके विशेषोंके द्वारा उन-उन लीलाओंका त्याग करके आश्रयका ग्रहण कर लेना, यह चुनाव ही विशुद्धि है। यद्यपि सर्गादि धर्म किंवा लीलाएँ भगवद्रूप ही हैं, सत्य हैं, असत्य नहीं—तथापि उनमें माया है, मायाके गुण हैं; अतएव उनका लोकदृष्टिसे परित्याग करना पड़ता है। यही 'नेति-नेति' है। यही भागवत है, भगवान्‌की समझ है।

जहाँतक धर्मदृष्टि है, वहाँतक वे त्याज्य हैं; किन्तु जब आश्रयदृष्टि जम गयी, सुवर्णज्ञान समझमें आ चुका, तब फिर लीलाएँ भी ग्राह्य हैं, कुछ भी त्याज्य नहीं। 'सुवर्ण ही सुवर्ण है' यों समझ लेनेपर गहने भी ग्राह्य हो जाते हैं। सुवर्णके और गहनोंके विशेषोंका अच्छी तरह परिचय हो जाना चाहिये। यह हो जानेपर भूल दूर होकर सुवर्णका ज्ञान हो जायगा। इसी तरह श्रीमद्भागवतके द्वारा जिसने लीला और लीलाश्रय पुरुषोत्तम दोनोंके विशेषोंको समझकर भगवान्‌को पहचान लिया है उसे फिर दोनों एक मालूम देते हैं, अतः कुछ भी त्याज्य नहीं रह जाता। वह दोनोंका रस लेता हुआ भी भूल नहीं सकता। इसीको प्रत्यापत्ति कहते हैं, यही आश्रय-प्राप्ति है।

मान लीजिये कि किसी स्त्रीने कर्णफूल बनवाया। उसमें नकाशियोंका गुलाब फूल खुदा हुआ है। उसमें पँखुड़ियाँ हैं, दाँडी है और पत्तियाँ हैं। ये सब सोनेकी ही लीलाएँ हैं। सोना इनका आश्रय है। ये असत्य नहीं है; पर जो कुछ भी है, सब सोना-ही-सोना है। इसलिये हम इन्हें सोनेकी माया कहते हैं। मान लीजिये कि उसमें एक पँखुड़ी टेढ़ी-मेढ़ी है। पहननेवाली स्त्री उसे भद्दी कहती है। वास्तवमें तो सुन्दरता और भद्दापन दोनों ही सुवर्णहीकी लीला है, वह न बुरी है और न अच्छी। दोनों सुवर्ण-ही-सुवर्ण हैं। पर उस स्त्रीके हृदयमें उसका भद्दापन-अच्छापन ही समा रहा है। इससे वह किसी तरह भी उसे लेती नहीं। इतनेमें एक सुवर्णको पहचाननेवाला सुवर्णदृष्टि सुनार आ निकला, उसने कहा—'लाओ, बहूजी! आपको नहीं लेना है तो मुझे दे दो; मेरी दृष्टिमें यह न अच्छा है न बुरा, सब सोना ही तो है। सोना बुरेका भी आश्रय है, अच्छेका भी। वास्तवमें देखा

---

१. ततः सूर्यादुत्पन्ना अपि मेघा यथा सूर्याच्छादका एवं जगदपि भगवदुत्पन्नमपि भगवदाच्छादकम्। (श्रीमद्भा० सुबोधिनी १० स्कं० राजसप्रकरण)

जाय तो किसीका भी नहीं, केवल अपनी मायाका ही आश्रय है और फिर भी सत्यदृष्टिसे देखो तो मालूम होगा कि वह स्वयं अपने-आपका ही आश्रय है, किसी अन्यका नहीं। स्वस्वरूप लीलाओंका ही आश्रय है—'स्वाश्रयाश्रयः'। (श्रीमद्भा० स्कं० २)

सर्गादि नौ लीलाएँ ही एक-दूसरीसे मिलकर अनन्त हो जाती हैं। उनका अच्छापन-बुरापन भी भगवल्लीला है, भगवान् हैं।

यत् किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्।
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते॥
(श्रीमद्भा० सुबोधिनी)

भगवान्की लीलाएँ, उनके धर्म और विशेष सब कुछ वही हैं; पर अज्ञान-अन्यथाज्ञानस्वरूपा मायाका अंश सबमें घुसा हुआ है। 'आत्मनि यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च तदात्मनो माया।' सभी गहनोंका आत्मा (अतति=व्याप्नोति) सोना है। वह सब गहनोंमें फैलकर बैठा है। पर उस आत्मामें कुछ-का-कुछ तो दीख रहा है, पर यह सोना आप नहीं मालूम पड़ता। उसको न पहचाननेवाले उसे सोना न कहकर गहना ही कहते हैं। यह समझनेवालोंकी भूल है। वास्तवमें तो सबका स्वस्वरूप (आत्मा) सोना ही है, आश्रय भी सोना ही है। इसी तरह भगवान् पुरुषोत्तम ही सबका आश्रय, आत्मा, और स्वस्वरूप है।

स्वस्वरूपलाभार्थकोपजीव्यत्वम् आश्रयत्वम्। आश्रयो द्विविधः। शास्त्रमार्गेण आश्रीयत इति प्रपत्त्या सायुज्येन वा, उत्पत्तिस्थितिप्रलयैर्वा।'
(श्रीमद्भा० सुबोधिनी)

मर्यादामार्गको 'शास्त्रमार्ग' कहते हैं और अनुग्रह-मार्ग लोकसिद्ध है। हमें संक्षिप्त विचार ही करना है, इसलिये शास्त्रमार्गीय आश्रयका विचार पहले कर लेते हैं। अनुग्रहमार्गीय आश्रय भगवान्का निरूपण विस्तृत है। सच्चिदानन्द भगवान् अपने तीनों अंशोंसे विश्वका आश्रय हैं, यह बात हम पहले कह चुके हैं। किन्तु वह फलाश्रय है। साधनरूपसे भी वह भगवान् है, आश्रय है। सत्-चित्-आनन्द, क्रिया-ज्ञान-प्रेम। क्रिया, ज्ञान दोनों लोकमें साधनरूपसे प्रसिद्ध हैं; किन्तु दोनोंके आश्रय भगवान् ही हैं। इसलिये साधनाश्रय भगवान् हैं। यह पाँच प्रकारका है। पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ और जिह्वा—ये पाँच इन्द्रियाँ क्रियासाधन प्रसिद्ध हैं। किन्तु इन पाँचोंका आश्रय ज्ञानरूप भगवान् है। तुरीय ज्ञानरूप भगवान् और क्रियारूप भगवान् यदि इनका आधार—आश्रय न हो, तो इनकी साधनता ही सिद्ध न हो। इसलिये क्रिया-साधनाश्रय भी वासुदेव भगवान् है।

ज्ञानरूप साधनका भी आश्रय भगवान् ही है। यह आठ प्रकारका है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ ज्ञानसाधन सुप्रसिद्ध हैं। किन्तु इन सबका आधार—आश्रय वह पुरुषोत्तम भगवान् ही है। इसको तुरीय पदार्थ भी कहा है—

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥
(श्रीमद्भा० २ स्कं०)

जगत्में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—ये तीन पदार्थ हैं। पर तीनों अन्योन्याश्रित हैं; ज्ञाता ज्ञेयके अभावमें, ज्ञेय ज्ञाताके अभावमें और ज्ञाता-ज्ञेय ज्ञानके अभावमें निकम्मे हैं। यदि जगत्में ज्ञाता न होता तो न ज्ञान सिद्ध होता और न ज्ञेय ही। ज्ञाता है तो ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। और यदि दुनियामें कोई ज्ञेय पदार्थ ही न होता तो ज्ञाता और ज्ञान भी निष्फल हो जाते। ज्ञेयके बिना ज्ञाता और ज्ञान किसका ? अच्छा, अब यदि ज्ञान ही न रहे तो फिर ज्ञाता और ज्ञेयकी खबर ही कैसे पड़े ? ज्ञान भी अवश्य रहना चाहिये। पर ये तीनों परस्पर एक दूसरेके आश्रित

---

१. वस्तुतो मायिकानामेव न स्वस्येति विषयताया आश्रयत्वं बोधयति। (श्रीमद्भा० सुबोधिनी स्कं० २)

रहनेसे प्रत्येक असमर्थ है। जो अन्योन्य-आश्रित हैं वे असमर्थ होते हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—तीनों अन्योन्य-आश्रित हैं, असमर्थ हैं। ऐसी अवस्थामें तीनों ज्ञानोंका आश्रय, तीनोंको सामर्थ्य देनेवाला तीनोंमें व्याप्त होकर बैठा हुआ स्वतन्त्र एक तुरीय ज्ञानधर्मा भगवान् और भी है, जिसने तीनों ज्ञानोंको अपनी गोदमें ले रक्खा है। यही हमारा 'फलाश्रय' है। यही सर्वाधार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। 'मैं घड़ेको जानता हूँ' इस वाक्यार्थमें तीन पदार्थ हैं। मैं ज्ञाता, घड़ा ज्ञेय और 'जानता हूँ' ज्ञानक्रिया—ये तीन पदार्थ हैं। घड़ेका ज्ञान है, 'मैं' का ज्ञान है, और जानता हूँ तो ज्ञान है ही। पर इन तीनोंसे पृथक्, तीनोंमें व्यापक, जिसे तीनों ज्ञानोंका पता है अतएव उन तीनोंको अपनी गोदमें लिये बैठा है—वह तुरीय ज्ञान और भी है ही। बस, यही वह स्वाश्रयाश्रय आत्मा है। 'आत्मा' शब्दसे जीव नहीं समझ लेना चाहिये। 'आत्मा' शब्दके प्रकरणवश कई अर्थ हो जाते हैं। यहाँ 'आत्मा'का अर्थ न देहादि जड पदार्थ है, न इन्द्रिय है, न मन है, और न चेतनांश जीव है। किन्तु सर्व-व्यापक अमेयानन्द सच्चिदानन्द श्रीपुरुषोत्तम भगवान् हैं। 'अतति—व्याप्नोति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आत्माका अर्थ पुरुषोत्तम ही वस्तुतः हो सकता है। यह आत्मा स्वाश्रयाश्रय है, स्वप्रकाश है। 'स्वाश्रयश्च असौ आश्रयश्च स्वाश्रयाश्रयः'। स्व अर्थात् अपना प्रकाशक रहते समस्त जगत्का प्रकाशक। और जब 'स्वाश्रयस्य आश्रयः स्वाश्रयाश्रयः' षष्ठीतत्पुरुष समास करते हैं, तब श्रीपुरुषोत्तम अर्थ होता है। स्व—सर्वजगत्, उसका आश्रय अक्षर ब्रह्म और उसका भी आश्रय श्रीपुरुषोत्तम भगवान्। अक्षर ब्रह्म लीलापदार्थ है और लीलाओंका भी आश्रय श्रीपुरुषोत्तम है। ज्ञानमार्गमें और भक्तिमार्गमें श्रीपुरुषोत्तम ज्ञेय है, अतएव 'स्वाश्रयाश्रय' शब्दका संकोच 'आश्रय' शब्दमें कर लिया है। 'स्वाश्रयाश्रय' शब्दके दो समास करनेसे यह आश्रय लीला भी है और लीलाओंका आधार भी। अतएव ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनोंका आश्रय यही है[1]।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः॥

ज्ञानयोग और निर्गुण भक्ति—इन दोनोंका एक ही आश्रय है, जिसे भगवान् कहते हैं। यह सबका फलरूप है। यहाँतक हमने फलरूप भगवान्—आश्रयका निरूपण अति संक्षिप्तरूपसे कर दिया है। इसके आगे साधनाश्रय भगवान्का वर्णन करना है, किन्तु लेखका विस्तारभय बना ही रहता है; इसलिये फिर कभी देखा जायगा।

नन्दलाल

कुंडल अमोल कान, मोर को मुकुट सीस,
कंबु-कमनीय कंठ सोहै मंजु मुक्तमाल।
पारिजात-पल्लव लुनाई पानि लूट्यो जासु,
प्रेमवश ह्वै के जो कहायो व्रज-बीच ग्वाल॥
धेनु-धूलि-धूसर सुअंग मात अंक बैठि,
मंद मुसकान सों हरत जौन दुःखजाल।
सोई पाप-चोदित भवाब्धि के भ्रमरमध्य,
मेरी जीर्ण नैया को खिवैया एक नन्दलाल॥

—श्रीहरि

१. स तु स्वात्मानमेवाश्रित्य तिष्ठति न तस्याश्रयान्तरापेक्षा—इत्यादि (श्रीमद्भा० सुबोधिनी २ स्कं०)

श्रीमद्भागवतपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ

श्रीमद्भागवत भावका समुद्र है। उसके एक-एक श्लोक और एक-एक पदमें इतने अनूठे भाव भरे हैं कि यदि कोई उसमें गोता लगाये तो इतना सुख, इतना रस अनुभव करे जिसकी कोई सीमा नहीं। अबतकके अनेक आचार्यों और संतोंने उसमें डुबकी लगाकर बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त किये हैं और मुक्त हस्तसे उन्हें जनता-जनार्दनकी सेवामें समर्पित भी किये हैं। यदि कोई उनके नामोंकी गिनती करना चाहे तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। वैसे ही संतोंमें श्रीहरिसूरि नामके एक महाकवि हो गये हैं। उन्होंने संवत् १८९४ के लगभग एक 'भक्तिरसायन' नामका काव्य-ग्रन्थ लिखा था। उसकी श्लोक-संख्या ५००० के लगभग है। उस ग्रन्थमें दशम स्कन्धके पूर्वार्धके अनुसार ४९ अध्याय हैं और सबमें श्रीमद्भागवतके मूल और अर्थके आधारपर सुन्दर-सुन्दर भावोंकी उद्भावना की गयी है। श्रीमद्भागवतको लेकर ऐसी सरस उत्प्रेक्षाएँ शायद ही कहीं अन्यत्र मिलें। सचमुच भागवतके गम्भीर भावोंको समझ लेना बड़े-बड़े विद्वानोंके भी वशकी बात नहीं है। इसे तो वे ही लोग ग्रहण कर सकते हैं, जिनका हृदय भगवान्‌के प्रति प्रेमभावसे छलक रहा है। यों तो उनका पूरा ग्रन्थ ही अत्यन्त मधुर एवं सरस है, परन्तु एक स्थानपर सब-का-सब उद्धृत कर लेना सम्भव नहीं है। इसलिये यहाँ पाठकोंकी सेवामें उसके कुछ नमूने ही उपस्थित किये जाते हैं।

जिस समय पृथ्वी असुरभावाक्रान्त राजाओंके अत्याचारसे पीड़ित होकर ब्रह्माकी शरणमें जाती है और ब्रह्मा उसकी व्यथा सुनकर भगवान् शङ्करको साथ ले क्षीरसागरकी यात्रा करते हैं, उस समय ब्रह्माजी भगवान् शङ्करको साथ क्यों ले जाते हैं—इसका रहस्य खोलते हुए श्रीहरिसूरि कहते हैं—

भक्ताभक्तजनावनार्दनकृते
सत्त्वं तमोऽपेक्ष्यते
तत्राद्यं तु हरौ सदावनपरे
नैसर्गिकं वर्तते।
अन्यद् योजयितुं ध्रुवं विधिरगात्
त्र्यक्षेण सार्द्धं यतः
प्रोक्तं तेन पुरो हरेर्विहरणं
शक्त्या स्वकालस्थया॥

'भक्तोंकी रक्षाके लिये सत्त्वगुणकी आवश्यकता होती है और दुष्टोंके दमनके लिये तमोगुणकी। भगवान् विष्णुमें सत्त्वगुण तो सदा-सर्वदा स्वाभाविक ही विद्यमान रहता है, क्योंकि वे भक्तोंकी रक्षामें तत्पर रहते ही हैं। परन्तु तमोगुणके स्वामी तो भगवान् शङ्कर ही हैं। इसलिये ब्रह्माजी भगवान् शङ्करको विष्णुभगवान्‌के पास ले गये कि वे भी इनके गुणसे युक्त होकर दुष्टोंके दमनका कार्य करें।' यह बात श्रीमद्भागवतके मूलमें भी स्पष्टरूपसे कह दी गयी है कि भगवान् अपनी कालशक्ति अथवा रुद्रशक्तिके द्वारा पृथ्वीका भार क्षीण करते हुए विहार करेंगे।

शङ्करजीको साथ ले जानेका दूसरा कारण बतलाते हुए वे कहते हैं—

यदा स्यातां सत्त्वानुसरणचणौ द्वावपि गुणौ
तदा योगः सिद्धो भवति भगवत्प्रापक इति।
स्फुटं यत् क्षीराब्धौ सहरपरमेष्ठिप्रसरणात्
समाधिः सिद्धोऽभूदुदितहरिसाक्षात्कृतिसुखः॥

'अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् यह बात जानते हैं कि जब रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुणका अनुगमन करने लगते हैं, तब भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला योग सिद्ध हो जाता है। यह बात इस घटनासे स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि जब तमोगुणके अभिमानी रुद्र और रजोगुणके अभिमानी ब्रह्मा दोनों एक साथ मिलकर सत्त्वगुणके

प्रतीक क्षीरसागरके तटपर पहुँचे, तब स्वयं ही उनकी समाधि लग गयी और उसमें भगवान्‌के साक्षात्कारका सुख उपलब्ध हुआ।'

कितनी सुन्दर और शास्त्रीय सूझ है!

भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके अवसरपर सम्पूर्ण प्रकृतिकी प्रसन्नताका वर्णन किया गया है। उस प्रसङ्गमें श्रीहरिसूरिने एक-एक विषयपर अनेक-अनेक सूक्तियाँ लिखी हैं। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि उस समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं। इसपर वे कहते हैं कि दिशाओंके प्रसन्न होनेका एक विशेष कारण था। वह यह कि उनके पति दिक्पालगण दैत्योंके भयसे अपना अधिकार और घर-द्वार छोड़-छाड़कर भाग गये थे। वे वियोगिनी थीं, दुखिया थीं। श्रीकृष्णके जन्मसे उन्हें अपने पतियोंके अधिकार और संयोगकी प्राप्ति होगी, यही सोचकर वे प्रसन्नतासे फूली नहीं समातीं। देखिये, इसका कितना सुन्दर वर्णन है—

रिपुजातभयोज्झिताधिकारैः
पतिभिः साकमितोऽचिरेण योगः।
प्रभवेदिति ता दिशः प्रसेदु-
र्भुवि जन्मैशमवेक्ष्य कंसहन्तुः॥

परन्तु दिशाओंकी प्रसन्नताका इतना ही कारण नहीं था, वे इसलिये भी प्रसन्न हो रही थीं कि उनका एक नाम 'हरित्' है और श्रीहरिके अवतारसे उनका हरित्व और भी बाधारहित तथा प्रसादपूर्ण हो जायगा। संस्कृतमें दिशाओंका एक नाम आशा भी है। दिशाएँ यह सोचकर और भी प्रसन्न हो गयीं कि 'अब भगवान्‌के अवतारसे सत्पुरुषोंकी आशाएँ अर्थात् हम दिशाएँ पूर्ण हो जायँगी। इससे बढ़कर हमारे लिये आनन्दकी बात और क्या होगी!' श्रीहरिसूरि कहते हैं कि भगवान्‌के अवतारके दिन दिशाएँ प्रसन्न हों, यह तो स्वाभाविक ही है; क्योंकि दिशाएँ ही भगवान्‌के कान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दुखियोंकी प्रार्थना सुननेके लिये सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं, यह बात अपनी प्रसन्नताके द्वारा उन्हें सूचित जो करनी है। उन्हींके शब्दोंमें—

दुर्दान्तोद्धतदैत्यदत्तविपदां तत्क्लेशनाशार्थिनां
श्रोतुं वाचमदुर्हृदां सदयधीर्दत्तावधानः सदा।
अस्त्येव प्रभुरित्यशङ्कमखिलस्पष्टावगत्यै तदा
युक्तं ता निखिलाः प्रसेदुरमलास्तच्छ्रोत्ररूपा दिशः॥

अवश्य ही श्रीहरिसूरिकी दृष्टिमें प्रकृतिका एक-एक कण और एक-एक भावना भगवद्भावसे सम्बद्ध होकर ही सचेष्ट है।

आज वायु बड़ी ही शीतल, मन्द, सुगन्ध वह रही है—इसका कारण क्या है? सम्भव है, वह उदार-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेम करनेके लिये स्वयं भी उदार बन रही हो। नहीं-नहीं, वह अभ्यास कर रही है—इस बातका कि जब प्यारे श्यामसुन्दर लीला-विहार करते-करते थक जायँगे और उनके मुखारविन्दपर मकरन्दके समान स्वेदबिन्दु झलकने लगेंगे, तब मैं धीरे-धीरे उनका पान करूँगी। इसके लिये पहलेसे ही अभ्यास करना चाहिये, कहीं कोई ढिठाई न हो जाय। सम्भव है, वायुदेव यह सोच रहे हों कि भगवत्प्राप्तिके लिये शुद्ध अन्तःकरण चाहिये और उसके लिये कुछ दान-पुण्यकी आवश्यकता है। इसीसे वे सुकृत-सुगन्धके उपार्जनमें व्यस्त हो रहे हों। वायुदेवके मनमें एक दूसरी बात भी हो सकती है। वे सोच रहे होंगे कि 'मेरे पुत्र हनुमान्‌ने श्रीरामावतारमें भगवान्‌की बड़ी सेवा की है। यद्यपि अपने पुत्रकी सेवासे मैं कृतार्थ हो चुका हूँ, तथापि स्वयं भी भगवान्‌की कुछ-न-कुछ सेवा करनी चाहिये।' श्रीहरिसूरि कहते हैं—

पुत्रेण प्राग्घनुमता कृतयास्य भूयः
शुश्रूषयात्र भृशमस्मि कृतार्थ एव।
साक्षात्तथाप्यहमिहापि समाचरेयं
सेवामतः परिचचार तदा स दासः॥

जिस समय श्रीवसुदेवजी अपने पुत्र श्यामसुन्दरको लेकर नन्दबाबाके घर पहुँचानेके लिये गोकुल जा रहे

थे, श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आता है कि उस समय यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं। बढ़नेके कारणकी उत्प्रेक्षा करते हुए श्रीहरिसूरिजी कहते हैं—

सन्मानसे लसति यत्पदपद्मरेणुः
सोऽयं स्वयं प्रभुरुपैति मसाद्य तीरे।
सूर्यात्मजेत्यतितरां मुदमुद्वहन्ती
सानन्दबाष्पलहरीभिरभूदपारा॥

श्रीयमुनाजीने सोचा संतोंके पवित्र मानसतीर्थमें जिनके चरण-कमलोंकी रमणीय रेणु शोभायमान होती है, वे ही प्रभु आज मेरे तटपर पधार रहे हैं! यह बात ध्यानमें आते ही श्रीयमुनाजीका हृदय आनन्दसे भर गया। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी धारा बह चली और बस, यही कारण है कि उस समय वे अपार हो गयीं। सम्भव है, श्रीयमुनाजीने सोचा हो कि ये हैं शूरके वंशज और मैं हूँ सूर्यकी पुत्री! इनके सामने मैं भी अपना शौर्य प्रकट करूँ, यह उचित ही है। इसीसे उन्होंने एक सुसजित सेनाके समान अपनी जलराशि उनके सामने खड़ी कर दी। यह भी सम्भव है कि यमुनाजी शेषनागको देखकर डर गयी हों। उन्होंने सोचा होगा कि भयङ्कर कालिय नाग तो मेरे अंदर रहकर सबको भयभीत कर ही रहा है, अब यह दूसरा आ पहुँचा। इसीसे उन्होंने शेषनागके सहस्र फण देखकर उन्हें लौटा देनेके लिये अपनेको इतना बढ़ा लिया हो। परन्तु यह सब कुछ नहीं, श्रीयमुनाजी कालिन्दीके रूपमें भगवान्‌की पटरानी होनेवाली हैं। मैं तुम्हारी योग्य प्रेयसी हूँ, यह दिखानेके लिये ही वे अपनी अपार जलराशिके द्वारा भगवान्‌के हृदयके समान ही अपने हृदयकी विशालता प्रकट कर रही हैं। श्रीहरिसूरि कहते हैं—

अनन्तशम्बरोल्लासि हृदयं सदयं सदा।
तवेवेश ममाप्यस्तीत्यापगा किमबोधयत्॥

यह सब तो हुआ, परन्तु क्षणभरमें ही यमुनाजी घट क्यों गयीं? इसका भी कारण सुनिये—

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलि-
र्ममाग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमार्ष्टुम्।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना
क्वचित् कण्ठदघ्ना च सा किं तदाऽऽसीत्॥

श्रीयमुनाजीने सोचा कि कहीं भगवान् श्रीकृष्णके मनमें यह बात आ गयी कि मैं यमुनाके अगाध जलमें जलक्रीडा कैसे करूँगा, तब तो बड़ा बुरा होगा! इसीसे वे झट इतनी कम हो गयीं कि उनमें कहीं गलेभर पानी रह गया तो कहीं नाभितक ही। कहीं-कहीं तो घुटनेतक आ गया! सचमुच श्रीयमुनाजीके हृदयका यह भाव श्रीहरिसूरिकी पैनी दृष्टिसे ही समझा जा सकता है।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आया है कि जिस समय पूतना खूब बन-ठनकर श्रीकृष्णको कालकूट विष पिलाने गयी, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपने नेत्र बंद कर लिये। भगवान् श्रीकृष्णके नेत्र बंद करनेका क्या रहस्य है, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये श्रीहरिसूरिने अनेकों उत्प्रेक्षाएँ की हैं। वे कहते हैं—भगवान्‌ने सोचा होगा कि 'मैं सोनेका अभिनय कर लूँ, तभी पूतनाकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति पापजनक हो सकती है। यदि मैं देखता ही रहा, तब तो उसका अपराध हल्का हो जाता है।' इस प्रकार समदर्शी भगवान्‌ने अपने स्वच्छन्द लीला-विहारमें भी मर्यादा-पालनका समुचित ध्यान रक्खा।' भगवान्‌के नेत्र बंद करनेका यह भी कारण हो सकता है कि वे पूतनाको आया देखकर कुछ सोचने लगे हों। अवश्य ही उन्होंने बाह्य नेत्र बंद करके अन्तर्दृष्टिसे इस विषयपर विचार किया होगा कि 'मुझे केवल अपनी ही रक्षा करनी चाहिये अथवा इस पापिनी पूतनाके पंजेसे जगत्‌के समस्त बालकोंकी रक्षा।' तभी तो सबकी रक्षाके लिये पूतनाके मृत्यु-दण्डका निर्णय हुआ। परमकृपालु मधुसूदन भगवान्‌की अन्तर्दृष्टिसे यही निर्णय होना चाहिये था। सम्भव है भगवान्‌के मनमें यह बात आ गयी हो कि 'तनिक देखो

तो इस पूतनाका परस्परविरुद्धव्यवहार ! यह रूप तो धरकर आयी है मेरी पत्नी लक्ष्मीका और पिलाना चाहती है मुझे अपना दूध ! ऐसी पापिनीका मुँह देखना भी पाप है ।' यही सोचकर उन्होंने नेत्र बंद किये होंगे। नेत्र बंद करनेका कारण यह भी हो सकता है कि भगवान्‌ने सोचा होगा 'पूतनाने इस जन्ममें तो कोई पुण्य किया नहीं, सम्भव है पूर्वजन्ममें कुछ किया हो। तभी तो मेरे पास चली आ रही है ।' नेत्र बंद करनेका यही कारण होगा। एक बात और है, भगवान्‌ने सोचा होगा कि 'मुझे इस अवतारमें पहले-पहल स्त्रीका ही वध करना पड़ रहा है। जब यह कटुकर्म करना ही पड़ रहा है, तो चलो आँख बंद करके ही कर लें ।' अन्यथा वे उस पापिनीका स्पर्श ही कैसे करते ! ऐसा जान पड़ता है कि सर्वानिष्टनिवृत्तिके लिये भगवान्‌को योग ही अभीष्ट है। इसी आदर्शकी स्थापनाके लिये पूतना-रूप अरिष्टकी निवृत्तिके उद्देश्यसे नेत्र बंद करके योग-की साधना तो नहीं कर रहे हैं? श्रीहरिसूरि भगवान्‌के नेत्र बंद करनेपर उत्प्रेक्षा करते हुए लिखते हैं—

दातुं स्तन्यमिषाद् विषं किल धृतोद्योगेयमास्ते यतः
पीतं चेत् प्रभुणा पुरो बत गतिः का चास्मदीया भवेत्।
इत्थं व्याकुलितान्निजोदरगतानालोक्य लोकान् प्रभु-
र्वक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं चक्रेऽक्षिसम्मीलनम् ॥

भगवान्‌के उदरमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड निवास करते हैं। जब उनमें रहनेवाले जीवोंने देखा कि पूतना दूधके बहाने भगवान्‌को विष पिलाना चाहती है, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—अब हमारी क्या गति होगी! भगवान्‌ने अपने निज जनोंको इस चिन्तामें पड़े देखकर उन्हें अभयदान देनेके लिये नेत्र बंद कर लिये, ऐसा जान पड़ता है। सम्भव है भगवान्‌ने इसलिये भी अपने नेत्र बंद कर लिये हों कि जो स्त्री बाहर तो माताके समान भाव दिखाती है और भीतर राक्षसीके समान क्रूर कर्म करनेके लिये उद्यत रहती है, उसका मुँह देखने योग्य नहीं है। भगवान्‌के नेत्र बंद करनेका एक और कारण जान पड़ता है। भगवान्‌ने सोचा होगा कि 'यदि मैं इसकी ओर कृपादृष्टि-से देखता हूँ तो यह निष्पाप हो जाती है और यदि उग्र दृष्टिसे देखता हूँ तो भस्म हो जाती है। दोनों ही प्रकारसे इसकी वासनाके संस्कार अवशेष रह जाते हैं और यह सर्वथा मुक्त नहीं हो जाती ।' यही सोचकर उसके कल्याणके लिये भगवान्‌ने अपने नेत्र बंद कर लिये। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें ही सुनिये—

दृष्टा चेत् करुणादृशेयमनघा स्याच्चोग्रया भस्मसा-
देवं चेदवशिष्यते ह्युभयथा तद्वासनासंस्कृतिः।
एतस्या हृदये तया च भविता जन्मान्तराप्तिः पुनः
सा मा भूदिति दीर्घदृष्टिरकरोदीशः स्वदृङ्मीलनम् ॥

भगवान् तो भगवान् ही हैं। वे किसीका परम कल्याण करनेके लिये नेत्र बंद कर लें या खोल लें, दोनों ही ठीक हैं। परन्तु उनके नेत्र भी तो चिन्मय ही हैं न ! उनका बंद होना और खुलना भी कुछ-न-कुछ रहस्य रखता होगा ! अवश्य। भगवान्‌के नेत्रोंने सोचा 'हम भगवान्‌के नेत्र हैं। हममेंसे ही एक सूर्यरूप होनेके कारण देवयान-मार्ग है तो दूसरा चन्द्ररूप होनेके कारण पितृयान-मार्ग है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हमारे ही द्वारा आत्मोचित गति प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थितिमें पूतना-जैसी दुष्टा राक्षसीको—जो स्पष्टरूपसे शत्रुका हित करनेके लिये यहाँ आयी है—भगवान् कृपा करके चाहे जो उत्तम-से-उत्तम गति दे दें, हमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु हम तो उसे अपना मार्ग कभी न देंगे' यही सोचकर भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंने अपने द्वारपर पलकोंके किंवाड़ लगा लिये। यह बात उचित भी है कि जो व्यक्ति किसीकी हिंसा करना चाहता है, वह चाहे आत्मीय-से-आत्मीय क्यों न हो, देखनेयोग्य नहीं है। तभी तो भगवान्‌के नेत्रोंने पूतनाके नेत्र न देखनेके

लिये पलक गिरा लिये। महात्मा पुरुषोंके चित्तमें अयोग्य पुरुषोंको देखनेकी उत्कण्ठा नहीं हुआ करती। तभी तो भगवान्‌के नेत्ररूप राजहंसोंने बकासुरकी बहिन बनावटसे भरी पूतनाका मुँह नहीं देखा। श्रीहरिसूरि कहते हैं—

> अनर्हवीक्षानुत्कण्ठा प्रसिद्धैव महात्मनाम्।
> ईशाक्षिराजहंसाभ्यां युक्तं नैक्षि वकीमुखम्॥

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी माखन-चोरीके प्रसङ्गके बाद ही मिट्टी खानेकी कथा आती है। भगवान्‌ने मिट्टी क्यों खायी, इसका रहस्य श्रीहरिसूरि बतलाते हैं—

> स्निग्धाज्यादिपदार्थभक्षणकृतः कुर्वन्ति तत्स्निग्धता-
> शेषोन्मार्जनहेतवे निजकरे मृल्लेपनं सर्वतः।
> आलोच्यैवमशिष्टशिष्टसरणिं श्रीशोऽपि तद्भक्षण-
> व्याजाद् विश्वमुखस्तदेव बहुधा सम्पादयामास किम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण देखते थे कि बड़े-बड़े सदाचारी शिष्ट पुरुष जब घी आदि स्निग्ध पदार्थोंका भोजन करते तो हाथकी चिकनाई मिटानेके लिये मिट्टी लगा लिया करते। भगवान्‌ने भी अभी-अभी मक्खन खाया है, इसलिये उसकी स्निग्धता मिटानेके लिये मिट्टी खा ली है। बचपनमें इसी प्रकार तो शिष्टाचारका अनुकरण होता है। परन्तु भगवान्‌में केवल बचपनकी ही बात हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता। इसमें कुछ-न-कुछ समझदारी भी अवश्य होगी। ठीक है, वैद्यलोग कहा करते हैं न कि 'विषस्य विषमौषधम्'—विषकी दवा विष है। और विष है मिट्टीका ही विकार। तब मिट्टीका ही एक अंश उसके प्रभावका नाशक भी हो सकता है। सम्भव है, भगवान्‌ने यह सोचा हो कि 'मैंने पूतनाके स्तनका विष पी लिया है तो मिट्टी खाकर उसकी दवा कर लेनी चाहिये।' हो न हो, यही सोचकर उन्होंने मिट्टी खायी होगी। यही बात श्रीहरिसूरि कहते हैं—

> पुरा विषमधायि यत् प्रबलपूतनास्तन्यगं
> विधेयमिह तद् विषं भवति नष्टवीर्यं यथा।
> शिशुश्रियमुपाददे किमु विभुर्मृदंशादनाद्
> विषस्य विषमौषधं भवति यद्भिषग्भाषितम्॥

परन्तु भगवान् अपने लिये तो कुछ करते ही नहीं, सब कुछ भक्तोंके लिये ही करते हैं। तब उन्होंने मिट्टी खाकर भक्तोंकी कौन-सी इच्छा पूर्ण की? हाँ, वह भी सुनिये—

> यत् स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद् योगिनां
> प्राप्तं स्यात् किमु तद् रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम्।
> इत्थं भूरिनिजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
> मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते॥

भगवान्‌के उदरमें रहनेवाले भक्त बार-बार इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि 'व्रजभूमिकी वह धूलि, जिसका सम्बन्ध गौओं और गोपियोंके चरणोंसे है, जिसे बड़े-बड़े देवता चाहते रहते हैं, दुष्ट कभी पा नहीं सकते और बड़े-बड़े योगी जिसका ध्यान करते रहते हैं, हमें भी मिल सकेगी क्या?' दयाके परम सागर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी यह अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये व्रजकी मिट्टी खाने लगते हैं कि किसी प्रकार यह रज उन भक्तोंतक पहुँच जाय। एक बात और है। भगवान् श्रीकृष्ण सम हैं, परम शान्त हैं, अपने स्वरूपमें ही एकरस विराजमान हैं। ऐसी स्थितिमें वे किसीकी रक्षा और किसीका दमन कैसे करें? हाँ, इसीलिये उन्हें सत्त्वगुण और रजोगुण अपनाने पड़ते हैं। सत्त्वगुण तो सदा-सर्वदा उनकी सेवामें हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अब दुष्टोंके दमनके लिये रजोगुणकी आवश्यकता है। उसीका भगवान् व्रजकी रजके रूपमें संग्रह कर रहे हैं! श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें—

> नानाविधं बहु रजोगुणकार्यमग्रे
> कर्तव्यमस्ति मम चेति विचिन्त्य कृष्णः।

मृत्स्नानुभक्षणमिषात् प्रकृतोपयुक्तं
प्रायो रजोगुणसुसंग्रहणं चकार ॥

अजी, इतना सोचनेकी क्या आवश्यकता है ? सीधी-सी बात है । पृथ्वीका एक नाम है 'रसा' । इसमें ऐसा कौन-सा रस है कि इसका नाम 'रसा' पड़ा है ? सम्भव है, भगवान्‌ने उसी रसकी परीक्षा करनेके लिये मिट्टीका रस चक्खा हो । यह तो ठीक है ही, संस्कृतमें पृथ्वीका एक नाम 'क्षमा' भी है । मिट्टी खानेका अर्थ क्षमाको अपनाना है । इस समय इसकी क्या आवश्यकता आ पड़ी थी ? श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें सुनिये—

विशृङ्खलविहारिणो मदवमानचेष्टाजुषो
भवन्ति शिशवोऽखिला अपि तदत्र मत्क्रीडनम् ।
क्षमांशविधृतिं विना न हि भवेत् स्वभक्तेष्विति
प्रभुः किमु चकार तत्कृतितया क्षमाधारणम् ॥

बात यह है कि भगवान्‌के साथ खेलनेवाले ग्वाल-बाल बिना किसी मर्यादाके मनमाने खेल खेला करते थे । कभी-कभी तो वे भगवान्‌के सम्मान और अपमान-का ध्यान भी भूल जाया करते थे और भगवान्‌को उन्हींके साथ खेलना था । तब पृथ्वीसे मिट्टीके रूपमें क्षमा ग्रहण किये बिना वे उनके साथ कैसे खेल पाते ? अवश्य ही उन्होंने इसीलिये मिट्टी खायी होगी ! केवल इतना ही नहीं, भगवान्‌की दृष्टि भविष्यकी ओर भी अवश्य ही रही होगी ! अभी-अभी अपनी माँको अपने मुँहके भीतर ही सारे विश्वकी सृष्टि कर दिखायेंगे । तब वह विश्वसृष्टि रजोगुणके बिना कैसे बन सकेगी ? अवश्य उसीका आयोजन करनेके लिये आप व्रजकी रज संग्रह कर रहे हैं । धन्य है !

ऐसी-ऐसी अनेक उत्प्रेक्षाएँ करनेपर भी श्रीहरिसूरि-को सन्तोष नहीं होता । वे कहते हैं—

मय्येव सर्वार्पितभावना ये
मान्या हि ते मे त्विति किं नु वाच्यम् ।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्या-
दित्यच्युतोऽधात् स्फुटमात्तरेणुः ॥

भगवान् व्रज-रजका सेवन करके यह बात दिखला रहे हैं कि जिन भक्तोंने मुझे अपनी सारी भावनाएँ और सारे कर्म समर्पित कर रक्खे हैं, वे मेरे सर्वथा मान्य हैं । केवल इतना ही नहीं, उनके चरणोंकी धूलि भी मेरे लिये एक प्रधान वस्तु और मुखमें धारण करनेयोग्य है । वास्तवमें भगवान्‌की भक्तवत्सलता ऐसी ही है । उनकी एक-एक लीलासे भक्तोंके प्रति परम प्रेम और करुणाके भाव व्यक्त होते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ वनमें कलेवा कर रहे थे । उनके चारों ओर गोल-गोल पङ्क्तियाँ बनाकर ग्वाल-बाल भी तरह-तरहकी वस्तुओंका स्वाद ले रहे थे । उसी समय यकायक सब-के-सब बछड़े आँखोंसे ओझल हो गये । जो ग्वालबाल बछड़ोंकी सुध-बुध खोकर खाने-खिलानेके खेलमें मस्त हो रहे थे, उन्हींके सिरपर चिन्ताके बादल मँडराने लगे । भगवान्‌ने उनके कलेवेमें विघ्न न पड़ने देकर स्वयं बछड़ोंको ढूँढ़नेके लिये अपना भोजन छोड़ दिया और वनकी यात्रा की । इस लीलाका रहस्य बतलाते हुए श्रीहरिसूरि कहते हैं—

ये मद्भक्तिरसैकलुब्धमनसस्तेषां कदाचित् सता-
मक्षाणि भ्रमतो दुरन्तविषये मग्नानि जातानि चेत् ।
त्यक्त्वा भोज्यमहं स्वमप्यतिजवात् संशोधयामि स्वतः
तद्भीतिं च निवारयन्निति तथा कृत्वाऽच्युतोऽदर्शयत् ॥

भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है कि 'जो सत्पुरुष निरन्तर मेरी प्रेमा-भक्तिके रसास्वादनमें ही मग्न रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ यदि कभी विषयोंमें भटक जाती हैं और उनका पार पाना कठिन हो जाता है तब मैं और तो क्या, अपना भोजन भी छोड़कर अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़ पड़ता हूँ और उनका भय मिटा-कर सर्वदाके लिये उन्हें शुद्ध कर देता हूँ ।' सच पूछो तो ग्वालबालोंके कलेवेमें कोई विघ्न-बाधा न पड़ने देकर बछड़ोंकी रक्षाके लिये दौड़ना उनकी लीलाका यही रहस्य प्रकट करता है । इस प्रसङ्गमें एक बात ध्यान

देनेकी है। जिस समय भगवान् बछड़ोंको ढूँढ़नेके लिये चले उन्होंने और सारी वस्तुएँ तो पत्तलपर ही छोड़ दीं, केवल भातका ग्रास लिये हुए दौड़े। इसका कारण क्या है ? संस्कृत भाषामें भातको 'भक्त' कहते हैं। भगवान्‌ने अपने हाथमें भातका ग्रास रखकर यह भाव प्रकट किया कि मैं समयपर सब कुछ छोड़ सकता हूँ—और तो क्या, अपनी प्रियतमा लक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु किसी भी समय तथा किसी भी कारणसे अपने प्रेमी और प्रियतम भक्तका परित्याग नहीं कर सकता। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें ही सुनिये—

सर्वं त्यजामि समये बहुना किं प्रियामपि।
सदाऽऽश्रयगतं भक्तं न कदापीत्यगात्तथा॥

श्रीहरिसूरिरचित 'भक्तिरसायन' के आरम्भिक अध्यायोंके कुछ अंशोंकी थोड़ी-सी सूक्तियाँ ऊपर संगृहीत की गयी हैं। उनके ४९ अध्यायोंमेंसे बहुत-से अध्याय तो ऐसे हैं, जिनमें चार-चार सौतक बड़े-बड़े श्लोक हैं। यदि उनका सारांश भी लिखा जाय तो एक बड़ी-सी पुस्तक तैयार हो सकती है। कहीं वे एक ही शब्दमें अनेकों प्रकारके सन्धि-विच्छेद करके विभिन्न अर्थ करते हैं तो कहीं पूरे वाक्यका अर्थ ही नया कर देते हैं। कहीं घटनाक्रमसे भाँति-भाँतिकी शिक्षा ग्रहण करते हैं तो कहीं अध्याय-के-अध्याय किसी विशेष योग-क्रियाके वर्णनमें लगा देते हैं। श्लेष, युक्ति, साधना और समाधिके विशेष अङ्गोंका वर्णन-सौन्दर्य स्थान-स्थानपर दृष्टिगोचर होता है। उनके एक-एक श्लोकसे यह बात प्रकट होती है कि वे श्रीमद्भागवतके गम्भीर-से-गम्भीर स्तरमें भी प्रवेश कर जाते हैं और वहाँसे सूक्ष्मतम भाव ढूँढ़ लाते हैं। स्थानसङ्कोचके कारण यहाँ बहुत थोड़ी बातें लिखी गयी हैं। अवकाश मिलनेपर फिर कभी उनका रसास्वादन किया जायगा।

श्रीकृष्ण-लीलापर एक दृष्टि

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

सर्वान्तर्यामी, सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका भागवतके साथ क्या सम्बन्ध है—यह बात पद्मपुराणवाले माहात्म्यमें तीन प्रकारसे बतलायी गयी है। एक तो यह कि श्रीमद्भागवत क्षीरसागर है और भगवान् श्रीकृष्ण इसके पद-पद, अक्षर-अक्षरमें अव्यक्त अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं—'तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्।' दूसरा यह कि श्रीमद्भागवत भी भगवान् श्रीकृष्णके समान ही अनिर्वचनीय महिमासम्पन्न है—'गौरवेण इदं महत्।' अनिर्वचनीय महिमा सबसे अतीत होती है। वक्ता, वचन और वाच्यका भेद उसमें नहीं हुआ करता। अनिर्वचनीय वस्तु 'इदम्' पदसे निर्वचनीय न होनेके कारण स्वरूपभूत ही होती है। तीसरी बात यह है कि श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णकी ही मूर्ति है—'तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।' इन तीनों सम्बन्धोंपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप भागवतान्तर्यामी, भागवतातीत और भागवतरूप है। इस दृष्टिसे श्रीमद्भागवतके पद-पदमें, अक्षर-अक्षरमें भगवान् श्रीकृष्णके त्रिविध स्वरूपका साक्षात्कार होता है। अवश्य ही यह बात केवल पद-ज्ञानसे नहीं होती, इसके लिये पर्याय-शब्दोंसे कोई सहायता नहीं मिलती; यह बात होती है पदके वाच्यार्थका ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर, लक्ष्यार्थका इङ्गित समझ लेनेपर। फिर तो भागवतके घट, पट, मठ आदि शब्दोंके अर्थके रूपमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपलब्धि होती है और भागवतमें कहीं भी किसी हेयांशका प्रकरण नहीं मिलता। यही बात भागवतको 'रसम्' कहकर सूचित की गयी है।

ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवतके अमुक प्रकरणमें ही भगवान् श्रीकृष्णकी लीला है, यह कहना नहीं बनता। भागवतका सब कुछ श्रीकृष्णकी ही लीला है। उसका प्रकाश कहीं व्यक्तरूपसे है और कहीं अव्यक्तरूपसे। जहाँ अव्यक्तरूपसे है, वहाँ भी सहृदय लोगोंके लिये

सङ्केत विद्यमान है। ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, दैत्य, देवता और सभी पदार्थोंको स्थान-स्थानपर भगवत्स्वरूप बतलाकर भावुक भक्त और तत्त्वज्ञके लिये इस बातका स्पष्ट सङ्केत कर दिया गया है कि जहाँ जिस रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण अपना ऐश्वर्य गुप्त रखकर विहार कर रहे हैं, वहाँ भी वे उन्हें पहचान जायँ।

भगवान्की लीलाओंमें यदि लीलाके लिये ही सरस, सरसतर और सरसतमका लीलाभेद किया जाय तो कहना पड़ेगा कि दशम स्कन्धमें वर्णित लीला अत्यन्त सरसतम है। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये लीला और चरित्रका सूक्ष्म अन्तर जान लेना भी आवश्यक है। चरित्रका एक उद्देश्य होता है। उसमें कर्तृत्वका भी कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, चाहे वह बाधितानुवृत्तिसे ही क्यों न हो। चरित्रमें चाहे कर्ताकी भावनासे और चाहे लोगोंकी भावनासे जगत्के हितका उद्देश्य समाविष्ट रहता है। परन्तु लीला भगवान्की मौज है। वह केवल लीलाके लिये है। अबतक ऐसा कोई माईका लाल नहीं हुआ, जो अन्तर्यामीके समान भगवान्के हृद्गत सङ्कल्पको जानकर यह कह दे कि उन्होंने इस उद्देश्यसे, इस प्रयोजनसे यह लीला की है। वे कर्ता होकर भी अकर्ता और भोक्ता होकर भी अभोक्ता हैं। इसीसे लोग लीलाका प्रयोजन सोचने जाकर लीलाका स्वरूप भूल जाते हैं और उन्हें अपने-जैसा ही मानवचरित्र सूझने लगता है। भगवान्की लीला हो रही है; वह सहज है, स्वाभाविक है। उसमें न उद्देश्य है, न प्रेरणा है, न भूत-भविष्यत्का विभाग है और न तो वर्तमानकी ही वहाँतक पहुँच है। जो उसे जानेंगे, मानेंगे, उसका रस लेंगे, भगवान्से एक हो जायँगे। यदि कोई उनकी लीलाओंको भी प्रयोजन-से प्रेरित, कर्म-बन्धनसे विजड़ित, कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे मर्यादित समझनेकी भूल करेंगे—वे स्वयं स्वरूपसे च्युत होकर जगजालमें जकड़ जायेंगे। भगवान्की लीला अनादि है, अनन्त है, एकरस है, स्वरूप है; उसमें न क्रिया है, न सङ्कल्प है, न स्पन्दन है, न प्रथम-द्वितीय-तृतीय-तुरीय आदिका भेद है; वह लीला है, इसलिये ज्यों-की-त्यों लीला है।

भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित एक-एक लीला किसी-न-किसी रूपमें भगवान्की भगवत्ता प्रकाशित करती है। यद्यपि उनके होनेका उद्देश्य ऐसा करना नहीं है, वे तो सहज स्वाभाविकरूपसे ही होती रहती हैं, फिर भी यह भगवत्ताका प्रकाश भक्तोंको स्पष्ट दीख पड़ता है और वे उसका रस भी लेते हैं। यह बात तनिक ध्यानसे दशम स्कन्धका पारायण करनेपर स्वयं अनुभवमें आ जाती है। दैत्योंके उद्धारमें जो ऐश्वर्य व्यक्त होता है, वह बहुत स्पष्ट है; फिर भी हम उसे ऐश्वर्य न मानकर माधुर्य ही मानते हैं। इसका कारण यह है कि जिनके सङ्कल्पमात्रसे ही अखिल ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि और संहार सम्पन्न होते हैं, उनके लिये किसी दैत्यको मारनेमें युद्ध करनेकी बात ऐश्वर्य-सूचक नहीं होती। पूतनाके स्तनका विष पी लेना उनके लिये कोई कठिन बात नहीं है। चतुर्भुजरूपमें प्रकट होना भी उनके वात्सल्यका ही उदाहरण है। वे जो कुछ करते हैं, नहीं करते, सब खेल है, स्वाभाविक है। इसी दृष्टिसे हम एक बार उनकी लीलाका स्वाध्याय करें।

जो सर्वस्वरूप है, उसका एकरूपमें, एक देशमें और एक कालमें प्रकट होना ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति और गोपन दोनों ही है। अपने ही अंशभूत ब्रह्माको मोहित करना, बाणासुरके युद्धमें शिवको पराजित करनेके लिये अस्त्र-प्रयोग करना और अपने सौन्दर्यसे महाविष्णुको भी आकर्षित करके उनके द्वारा अपनेको बुलवानेका उद्योग कराना इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे ऐश्वर्यमें इनसे बढ़े हुए हैं। फिर भी इस लीलासे तो उनकी मधुरता ही प्रकट होती है। अनेक बछड़ों, ग्वालबालों और अन्तमें आवरणसहित अनेक ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि कर देना, उनके रूपमें परिणत हो जाना इस बातकी स्पष्ट सूचना है कि ब्रह्माकी सृष्टि-शक्ति उनका ही एक अंश है। वरुणके द्वारा पूजा, इन्द्रके द्वारा अभिषेक और रासलीलाके प्रसङ्गमें चराचरविजयी कामदेवका पराजय भी ऐश्वर्यके प्रकाशके साथ ही उसका गोपन भी लिये हुए है। उनकी लीलामें यह कैसी विचित्रता है कि जो गोपियाँ कुछ ही क्षण पहले कह

रही थीं कि आप ब्रह्माकी प्रार्थनासे विश्वकी रक्षाके लिये अवतीर्ण हुए हैं, वही उनकी मधुरतासे सराबोर होकर कहने लगीं कि 'यहाँ उस कामीने अपनी प्रेयसीको कंधेपर ढोया होगा।' जो प्रलयके समय रुद्रशक्तिके रूपमें सारे जगत्को भस्म कर डालते हैं, वही प्रभु यदि कंसके धोबीको अपने हाथसे मारते हैं तो यह बात समझमें नहीं आती कि वे इस लीलाके द्वारा ऐश्वर्यका प्रकाशन कर रहे हैं अथवा गोपन। अपनी दृष्टिमें तो अवश्य ही यह मधुर-से-मधुर ऐश्वर्य-गोपन-लीला है। विष्णुशक्तिकी प्रधानता व्यक्त करनेके लिये तो इतनी अधिक लीलाएँ हुई हैं, जिनकी गणना भी कठिन है। परन्तु इस रूपमें अपनेको व्यक्त करना भी छोटे रूपका ही अभिनय है। सम्राट् यदि मन्त्री, सेनापति अथवा सिपाहीका अभिनय करता है तो यह उसकी मौजके अतिरिक्त और क्या है? क्या इन्द्रकी वर्षासे व्रजको बचानेके लिये सात दिनतक गोवर्द्धनको उठाये रखनेकी आवश्यकता थी? इस प्रकार प्रत्येक लीलामें अन्तरङ्गभावसे प्रवेश करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐश्वर्य और उसके अभावके एकमात्र अधिष्ठान हैं भगवान् श्रीकृष्ण; उनके लिये सब सम्भव है, चाहे जो कुछ करें या न करें। यह बात युधिष्ठिरके वचनोंसे और भी स्पष्ट हो जाती है—

> न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
> कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः॥
> (श्रीमद्भा० १०।७४।४)

'जैसे उदय अथवा अस्तके कारण सूर्यके तेजमें घटती या बढ़ती नहीं होती, वैसे ही किसी भी प्रकारके कर्मोंसे न तो आपका उल्लास होता है और न ह्रास ही; क्योंकि आप सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे रहित स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं।'

इसका अर्थ यह नहीं कि ऐश्वर्य और अनैश्वर्य दोनोंके अधिष्ठान भगवान् श्रीकृष्णका धर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें धर्मके अनुष्ठान और उसके अभाव भी भगवान् श्रीकृष्णमें ही हैं। उनकी लीलामें स्थान-स्थानपर धर्मकी अभिव्यक्ति हुई है। उनकी दिनचर्या ही देखिये, जागनेसे लेकर सोनेतक धर्मके काममें ही लगे हुए हैं। वे यज्ञ करते थे, दान करते थे, कुब्जा-जैसी स्त्रियोंका भी दयावश उद्धार करते थे, लोगोंको कैदसे, अत्याचारसे छुड़ाते थे और धर्मघातियोंका संहार करते थे। उनकी वह लीला आज भी चल रही है—एक शब्दमें वे समग्र धर्मके कर्ता, वक्ता और अनुष्ठाता थे। परन्तु यह सब क्या है? इसके लिये वे किसी मर्यादामें बद्ध हैं अथवा स्वाभाविक लीलाके अनुसार ही यह सब कुछ होता है? मनुष्य तो यही चाहेगा कि वे भी हमारी ही तरह मर्यादामें बँधे रहें और हमारी बुद्धिके अनुसार चलें। विचारहीन मनुष्य जीवधर्म और भगवद्धर्मका भेद नहीं कर सकता। भगवान्की तो बात ही अलग रही, मनुष्य तो अपनेसे उन्नत स्तरके मनुष्योंका ही धर्म नहीं समझ सकता। देवधर्म, पितृधर्म अथवा गन्धर्वधर्म आदिको ही समझनेवाले कितने लोग हैं? ऐसा होनेपर भी भगवान्की लीलामें जो धर्मका सहज प्रकाश होता है वह माधुर्यका गोपन करनेके लिये, ऐश्वर्यको छिपाकर उनकी साधारणता प्रकट करनेके लिये ही।

उनके धर्मपालनपर दृष्टि डालकर कोई कृतार्थ हो जाय—इसकी तो बात ही क्या, जो उनका नाम लेते हैं, वे भी धार्मिकोंके सिरमौर हो जाते हैं। भगवान्की लीलासे जिस यशका स्वाभाविक विस्तार होता है उसको गाकर, सुनकर, स्मरण कर अबतक कितने लोग कृतार्थ हो गये और आगे कृतार्थ होंगे—इसकी गणना नहीं की जा सकती। वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि गाते-गाते थक गये। ग्वालिनोंने इतना गाया कि 'उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।' उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णपर कलङ्क भी लगा कि उन्होंने स्यमन्तक मणि छीन ली। उनके कुछ अन्तरङ्ग लोग भी अनमनेसे हो गये। आज भी भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें कलङ्कका आरोप करनेवालोंकी कमी नहीं है। उन्होंने यशकी भाँति अपयशको भी स्वीकार किया। वे यश और अपयश दोनोंके ही आश्रय हैं, अधिष्ठान हैं। वे दोनोंसे अछूते हैं और दोनों उनके स्वरूप हैं। इसीसे वे भगवत्ताविशिष्ट और भगवत्तासे परे भगवान् हैं।

भगवान्‌की सौन्दर्यलीला और लक्ष्मीलीला भी ध्यान देने योग्य हैं। सुन्दर तो इतने कि 'भूषण-भूषणाङ्गम्'—उनके शरीरकी ज्योतिसे आभूषण भी चमक उठते। 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'—वे अपने शरीर-सौन्दर्यसे स्वयं विस्मित, चकित हो जाते। जिसने एक बार प्रेमसे उनकी ओर देखा, उन्हींपर निछावर हो गया। धूलि-धूसरित भी और चतुर्भुज भी, सबके अन्तर्यामी भी और सबके नेत्रोंके विषय भी। परन्तु इस सौन्दर्यके साथ ही भीषणता भी प्रकट हो जाती। मथुराकी रङ्गभूमिमें स्त्रियोंने जिसे कामदेवके रूपमें देखा, कंसने उसीको मृत्युके रूपमें। यशोदा जिसे गोदमें लेकर चूम रही थीं, उसीके विराट् रूपको देखकर थर-थर काँपने लगीं। अर्जुन जिसे देखनेके लिये लालायित था, उसीको देखकर काँपने लगा। वे मृत्यु और अमृत दोनों हैं। काल और कालातीत वस्तुका यही स्वरूप है। लक्ष्मीको लीजिये, वे भगवान् श्रीकृष्णके वक्ष:स्थलपर सुनहली रेखाके रूपमें सदा विराजमान रहती हैं। जिस दिनसे भगवान् व्रजमें आये, उसी दिनसे वह लक्ष्मीकी लीला-भूमि हो गया। वे सर्वात्मना भगवान्‌की चरण-रज और वृन्दावनधामकी उपासना करती हैं। परन्तु जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका चिउड़ा खाने लगते हैं, वे काँप उठती हैं। भगवान्‌की एक ठिठोलीसे लक्ष्मी (रुक्मिणी) की जो दुर्दशा हुई थी, वह दशम स्कन्धमें पाठ करने-योग्य है। श्रीकृष्णके लिये लक्ष्मी उनकी प्राणप्रिया हैं और कुछ भी नहीं हैं। वे लक्ष्मीके प्राणेश्वर और उनके स्पर्शसे भी दूर हैं। सौन्दर्य और सौन्दर्यका अभाव, लक्ष्मी और लक्ष्मीका अभाव, दोनों ही श्रीकृष्णमें एकरस हैं; वे दोनोंके ही अधिष्ठान हैं।

ज्ञानकी चर्चा व्यर्थ है। श्रीकृष्णका ज्ञान अखण्ड है, अबाधित है। सनत्कुमारके जिस प्रश्नका उत्तर स्वयं ब्रह्मा भी न दे सके, उसका समाधान भगवान् श्रीकृष्णने किया। पूरा ग्यारहवाँ स्कन्ध पढ़ जाइये, ज्ञानकी एकरस धारा मिलेगी। ज्ञान तो उनका स्वरूप ही है। परन्तु अज्ञान कहाँ है? यशोदासे पूछिये, उनका भोला बालक कितना अज्ञान है। वह तलवारसे अपना हाथ काट सकता है, जलमें अपनेको डुबा सकता है, कहीं आगका अंगारा उठाकर अपनेको जला सकता है। गोपियोंसे पूछिये, कोई ज्ञानी भी उनके घर इतना ऊधम मचा सकता है? हद हो गयी—'मेहनादीनि वास्तौ'। कहीं ज्ञानी भी ऊखलसे बाँधे जा सकते हैं? यह तो बचपनकी बातें हैं। अच्छा, जाने दीजिये। क्या श्रीकृष्ण यह नहीं समझते थे कि स्यमन्तक मणि शतधन्वाके पास नहीं, जाम्बवान्‌के पास है? फिर उन्होंने उसका कपड़ा-लत्ता क्यों ढूँढ़ा? क्या उन्हें इस बातका पता नहीं चला कि शाल्व जिस वसुदेवको मार रहा है, वह एक जादूका खेल है? फिर मूर्छित क्यों हो गये? हाँ, तो यह लीला है। कहनेमें और समझनेमें आनेवाले सारे ज्ञान और अज्ञान श्रीकृष्णमें ही हैं। वे ही दोनोंके अधिष्ठान हैं। उनकी लीलासे दोनों ही व्यक्त होते हैं। उसमें दोनों ही अव्यक्त रहते हैं। वह एक लीला है और लीला है। वह कर्ता और कार्यके भेदसे रहित है।

तनिक वैराग्यकी बात भी कह लें। श्रीकृष्ण रागी थे, कौन कहता है कि नहीं थे। माखन-चोरी, ऊखल-बन्धन, चीर-हरण, रास-लीला, द्वारकाके ऐश्वर्यका भोग—ये सब रागके ही तो लक्षण हैं। हाँ, ये लक्षण हैं, जिनका कभी-कभी व्यभिचार भी होता है। परन्तु वैराग्य? वह तो सभी लीलाओंमें है। जो प्रेमवश यशोदाकी साँटी सहता था, गोपियोंके नचानेसे नाचता था, उनके सामने हाथ जोड़ता था, मान-मनौती करता था, वही मथुरा जाकर एक बार लौटा तक नहीं; इसे हम राग कहें या विराग? जिस राज्यका नाम सुनकर बड़े-बड़े योगी-यति अपनी तपस्या छोड़ बैठते हैं, वही राज्य कंसकी मृत्युके बाद श्रीकृष्णके चरणोंपर लोटता था। युधिष्ठिरने अपना साम्राज्य क्या श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावर नहीं किया था? परन्तु उनकी ओर न ताककर उग्रसेन और धर्मराजके यहाँ सेवाका कार्य करना क्या अखण्ड वैराग्यका चिह्न नहीं है? सोलह हजार पत्नियाँ उनपर कामदेवका बाण चलातीं और वे अविचल भावसे

स्वरूपमें स्थित रहते, क्या यह अखण्ड वैराग्य नहीं ? 'पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ।' पुत्रोंकी बहुत बड़ी संख्या थी। श्रीकृष्ण सबको प्यार करते थे। परन्तु ऋषियोंके शापसे उन्होंने किसी एककी भी रक्षा नहीं की। सोनेकी द्वारका पलक मारते जलमें डूब गयी। सब कुछ कर सकते थे, कुछ नहीं किया। यह लीला वैराग्य-प्रदर्शनके लिये नहीं की गयी, अखण्ड वैराग्यकी सहज लीला है यह ! हाँ, तो श्रीकृष्णमें राग भी है, वैराग्य भी है। वे दोनोंके ही अधिष्ठान हैं। अधिष्ठान तो हैं ही, अध्यास भी हैं। रज्जुमें अध्यस्त सर्प प्रतीतिकालमें भी क्या रज्जुसे पृथक् है ? वे भगवान् तो हैं ही, 'भगवान्' शब्दकी और उसके अर्थकी सीमाके बाहर भी हैं। और यह बात उनकी प्रत्येक लीलासे प्रकट होती है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी यह सर्वशब्दार्थ-शून्य सर्वस्वरूपता स्थान-स्थानपर उनके मुखसे तथा उनके अन्तरङ्ग भक्तोंके मुखसे प्रकट हुई है। एक-दो उद्धरण देखिये। उद्धवजी कहते हैं—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४३)

'जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूतसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे, स्थावर हो या जङ्गम हो, महान् हो अथवा अल्प हो—ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो। श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें। वास्तवमें सब वही हैं, वही परमार्थ सत्य हैं।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥
(श्रीमद्भा० १० । ८२ । ४६-४७)

'प्यारी गोपियो ! जैसे घट-पट आदि जितने भी भौतिक पदार्थ हैं उनके आदि, अन्त और मध्यमें, बाहर और भीतर उनके मूल कारण पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओतप्रोत हो रहे हैं—वैसे ही जितने भी पदार्थ हैं—उनके पहले, पीछे, बीचमें, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ; मेरे अतिरिक्त उनका अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सभी प्राणियोंके शरीरमें ये ही पाँचों भूत कारणरूपसे स्थित हैं और आत्मा भोक्ताके रूपसे अथवा जीवके रूपसे स्थित है, परन्तु मैं इन दोनोंसे परे अविनाशी सत्य हूँ। सच पूछो तो ये दोनों मेरे ही अंदर प्रतीत हो रहे हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही उद्धवसे कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥
(श्रीमद्भा० ११ । १३ । २४)

'सनकादि ऋषियो ! तुमलोग तत्त्वदृष्टिसे यों समझो कि मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा दूसरी इन्द्रियोंसे भी जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं-ही-मैं हूँ; मुझसे भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि स्थूल-सूक्ष्म, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—विशेष तो क्या, सभी पदोंका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ श्रीकृष्णस्वरूप ही है। उनके दर्शन-ध्यानके लिये मनको चाहे दूसरे लोकमें ले जायँ, चाहे इस लोकमें रक्खें—सर्वत्र सर्वदा सर्वथा उनका दर्शन-ध्यान सम्भव है, क्योंकि सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा वही हैं। श्रीमद्भागवत इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्णताका प्रतिपादन करती है और उन्हींमें समा जाती है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण हैं, श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णमें है और वास्तवमें श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण एक अनिर्वचनीय वस्तु तथा सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीमद्भागवत-को जानना श्रीकृष्णको जानना है और श्रीकृष्णको जानना श्रीमद्भागवतको; इसलिये श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णके सम्बन्धका नहीं, स्वरूपका ज्ञान ही अपेक्षित है और यह भी एक लीला है।

भागवतकी कुछ फुटकर बातें

पत्र मिला। अब दौर्बल्यके कारण निबन्ध छोटा भी लिखनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये आज्ञापालनार्थ भागवत-पाठसे अवगत कुछ फुटकर बातोंका सङ्ग्रह भेज रहा हूँ।

(१) ब्रह्मावर्तका पश्चिम सीमा 'विनशन' लिखा है। यह 'विनशन' उसी स्थानका नाम है जहाँ भीष्मपितामह रणमें गिरे— (भागवत १। ९। १)

(२) मनु महाराज ब्रह्मावर्तमें वास करते थे— (भागवत ३। २१। २५)

(३) धनका पञ्चधा विनियोग करना उचित है—'धर्माय'—धर्मानुष्ठानमें, 'यशसे'—लोकोपकारद्वारा यशके लिये, 'अर्थाय'—धनवृद्धिके लिये, 'कामाय'—सुखार्थ, 'स्वजनाय च'—अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें। (भागवत ८। १९। ३७)

(४) आयुर्वेदप्रवर्तक 'धन्वन्तरि' समुद्र-मथनसे उत्पन्न 'धन्वन्तरि' से भिन्न हैं। ये हैं दीर्घतमा ऋषिके पुत्र। (भागवत ९। १७। ४)

(५) गोवर्धनलीलाके समय श्रीकृष्ण ७ वरसके बालक थे। 'स सप्तहायनो बालः' (भागवत १०। २६। ३)

(६) चन्द्रवंशी राजा शन्तनुके भ्राता 'देवापि' और सूर्यवंशी 'मरु'—दोनों महायोगी 'कलापग्राम' में अभी हैं—कलियुगके अन्तमें वासुदेवसे शिक्षित होकर ये दोनों वर्णाश्रमधर्मको 'पूर्ववत् प्रतिष्ठापित' करेंगे। (भागवत ९। १२। ५-६; ९। २२। १७-१८)

—गङ्गानाथ झा

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन और भागवतधर्म

(लेखक—श्रीयुत अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन प्राचीन भारतीय साधनाकी समस्त शाखाओं-उपशाखाओंका समन्वय करने, नाना प्रकारके वर्ग-उपवर्गमें विभक्त हिंदूजातिको संघबद्ध करके एक महान् जातिमें परिणत करने तथा युगानुसार सबमें भारतीय भाव-धाराका प्रचार करनेमें अपने सुदीर्घ जीवनको व्यतीत कर वृद्धावस्थामें सम्यक्रूपसे आत्मस्थ होकर ब्रह्म-निर्वाणकी प्राप्तिके प्रयत्नमें लगे। परन्तु उन्हें भीतर-ही-भीतर यह अनुभव होने लगा कि उनका कर्मजीवन अभी पूर्णरूपसे सफल नहीं हुआ और जिस महान् उद्देश्यको लेकर वे भारत-वर्षमें युगसन्धि (द्वापर और कलिकी सन्धि)-कालमें अवतीर्ण हुए थे, वह सर्वाङ्गरूपमें सम्पन्न नहीं हुआ। भीतर-ही-भीतर उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें असफलताका बोध होने लगा। सांसारिक जीवनके समस्त कर्तव्योंके सम्पादन तथा समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति होनेपर स्वभावतः अन्तःकरणमें जो एक प्रकारकी पूर्णता तथा स्वस्थताकी अनुभूति होती है, उसके प्राप्त न हो सकनेके कारण वे उदास-से होने लगे। परन्तु अपने जीवनका कौन-सा कर्तव्य बाकी रह गया है, विचार करनेपर भी यह निश्चय न कर सके। हिंदू-सभ्यताको सुप्रतिष्ठित करना; सभी श्रेणीके नर-नारियोंके कल्याणके लिये भारतके श्रेष्ठतम मनीषियोंके साधनोंके द्वारा प्राप्त सत्यके सर्वत्र प्रचारकी व्यवस्था करना; शिक्षित-अशिक्षित, कुलीन-अकुलीन, ऊँच-नीच सभी स्तरोंके मनुष्योंके लिये धर्म और मोक्षके मार्ग तथा धर्मानुकूल काम और अर्थका मार्ग दिखलाना; समस्त भारतवर्षमें एक आदर्श, एक सभ्यता तथा एक संस्कृतिका राजत्व प्रतिष्ठित करना; आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-चाण्डाल, भोगी-तपस्वी, गृही-संन्यासी—सबको उसी एक आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करके एक अखण्ड हिंदू-समाजके अन्तर्भुक्त करना तथा उनकी विभिन्न प्रकारकी जीवन-धाराकी विशिष्टताको बचाते हुए एक ही सभ्यता और संस्कृतिके अनुगत उनकी जीवन-धाराको प्रवाहित करना;

भारतवर्षकी सारी जातियाँ, सब वर्ण और समस्त सम्प्रदायोंमें महान् एकता स्थापन करना और उनकी विभिन्नमुखी साधनाको एक ही योगसूत्रमें ग्रथित करना—यही उनके कर्म-जीवनका व्रत था। वेदोंको सुसम्बद्ध करके, महाभारत और पुराणोंकी रचना करके, देश-काल और अवस्थाके अनुसार नियमपूर्वक इनकी शिक्षा और प्रचारकी व्यवस्था करके स्वयं विभिन्न स्थानोंमें आ-जाकर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, ऐहिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक जटिल समस्याओंका समाधान करके तथा सब प्रकारके विवाद—संशयके निराकरणमें अपनी शक्ति, ज्ञान और प्रभाव-प्रतिष्ठाका प्रयोग कर अपने जीवनके व्रतस्वरूप सब प्रकारके कर्मोंका उन्होंने सम्पादन किया था। उन्होंने वेदों और उपनिषदोंके विधि-निषेधात्मक तथा तत्त्वप्रतिपादक वाक्योंका जैसा समन्वय-पथ प्रदर्शित किया है, महाभारतमें तथा पुराणोंमें विभिन्न रुचि, बुद्धि तथा प्रकृतिसे युक्त, विभिन्न अवस्थाओंमें पड़े हुए नर-नारियोंके जीवनको परम कल्याणके मार्गपर लगा देनेके लिये सबके हृदयगत आदर्शकी एकता और साथ ही प्रत्येकके व्यावहारिक स्वधर्मकी विचित्रताका—विभिन्नताका निर्देश किया है; अनार्य-साधनाको आर्य-साधनाके साथ, शूद्र-साधनाको ब्राह्मण्य साधनाके साथ, कर्मसाधनाको ज्ञानसाधनाके साथ, विभिन्न देवताओंकी उपासनाको अद्वैत ब्रह्मतत्त्वके अनुसन्धानके साथ, सब प्रकारके सांसारिक कर्तव्यपालनको सर्वभावरहित मोक्षके साथ इस प्रकार निपुणतापूर्वक उन्होंने युक्त कर दिया है कि उससे किसीके साथ किसीके भी धर्मके सम्बन्धमें विवादका अवसर नहीं रह गया है। शूद्र, चाण्डाल, व्याध आदि भी अनन्य भक्तिका अनुसरण करते हुए भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं, मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं तथा ब्राह्मणके भी गुरुके पदपर आसीन हो सकते हैं—इस बातको दिखलाकर उन्होंने सभी जातियोंमें मनुष्योचित आत्मगौरवके ज्ञानको जाग्रत कर दिया है तथा उच्चकुलोत्पन्न, उच्चशिक्षा-सम्पन्न और सामाजिक प्रभाव और प्रतिष्ठासे युक्त ब्राह्मणादिकोंके मोक्षके विपरीत आत्माभिमानको नष्ट करके उनका कल्याण-साधन किया है।

कर्मकाण्डकी जटिलता और बारीकियाँ देखनेकी अपेक्षा मनुष्यजीवनमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, निरभिमान, ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका गुरुत्व; दान, सेवा तथा दूसरोंके लिये आत्मोत्सर्ग आदि कर्मोंका श्रेष्ठत्व तथा भगवान्‌में अनन्य भक्ति और सर्वजीवोंमें आत्मवत् प्रेमके अनन्तगुने महत्त्वकी स्पष्टरूपसे बारंबार घोषणा करके उन्होंने धर्मको सार्वभौमरूपमें प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार सनातन मानवधर्मके विभिन्न विचित्र अङ्गोंसे पूर्ण एक सर्वाङ्गसुन्दर उज्ज्वल स्वरूपको उन्होंने जनसमाजके सम्मुख उपस्थित किया है।

इतना करनेपर भी उनका चित्त शान्तिकी अनुभूति क्यों नहीं करता, विशेषरूपसे विचार करनेपर भी महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन इसका निश्चय न कर सके। इसी समय देवर्षि नारद उनके समीप स्वयं आकर उपस्थित हुए। व्यासदेवको कुछ विषण्ण-सा देखकर देवर्षिने उनसे इसका कारण पूछा। व्यासदेवने अपने हृदयकी समस्याको देवर्षिके सामने रखकर कहा कि मुझे इस अशान्ति तथा अपूर्णताके बोधका कारण समझमें नहीं आता, आप सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं, आप ही इसका कारण समझा दें, तथा इससे बचनेका उपाय भी बतला दें। भागवतधर्मके महान् गुरु, भगवत्पार्षद देवर्षि नारद मानो भारतीय साधनाके प्रधान आचार्य श्रीकृष्णद्वैपायनकी आन्तरिक समस्याको दिव्यदृष्टिसे जानकर ही बदरिकाश्रममें पधारे हैं, तथा व्यासदेवके आचार्यका जितना काम बच रहा है उसके सम्बन्धमें उन्हें उपदेश देनेके उद्देश्यसे ही उनके सम्मुख आविर्भूत हुए हैं। देवर्षि नारदने आचार्यदेवको बतलाया कि इतने दिनोंतक उन्होंने जिस रूपमें धर्म प्रचार किया है उसमें 'मानवधर्मका' ही सम्यक् प्रचार हुआ है, 'भागवतधर्मका' वास्तविक प्रचार नहीं हुआ। अतएव उनके कार्यका एक प्रधान अंश अभी बाकी रह गया है।

सार्वभौम सनातनधर्मके साधनक्षेत्रमें दो भाव-धाराएँ सदासे ही प्रवाहित हो रही हैं, जो 'मानवधर्म' और 'भागवत-धर्म' के नामसे प्रसिद्ध हैं। मानवधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य अपनेको ही केन्द्रस्थलमें प्रतिष्ठित रखता है, और भागवत-धर्मके अनुशीलनमें वह अपने जीवन-केन्द्रमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा करके साधनामें प्रवृत्त होता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे ज्योतिषशास्त्रमें पृथ्वी और सूर्यको केन्द्र मानकर आलोचना की जाती है। मानवधर्म और भागवतधर्म—इन दोनों मार्गोंमें धर्मके समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग विद्यमान हैं, दोनोंमें ही धर्मके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गकी आवश्यकता है; परन्तु दोनोंके दृष्टिकोणमें महान् अन्तर है।

मानवधर्मके दृष्टिकोणमें रहता है—मनुष्यका स्वभाव और प्रयोजन। ससीम देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिसे विशिष्ट मनुष्य स्वभावतः जीवित रहना चाहता है, सुख भोग करना चाहता है, जीवन और सुखको चिरस्थायी करनेके लिये तथा

जीवन-विकास और सुखसम्भोगकी सामग्रियोंको उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिये अर्थसञ्चय करना चाहता है; इसी उद्देश्यसे वह राष्ट्र और समाजमें प्रभाव-प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है, परस्पर पारिवारिक, राष्ट्रिय और सामाजिक—विभिन्न सम्बन्धोंसे युक्त होकर, पारस्परिक सहयोगिताके विपरीत आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक शक्तियोंके साथ जीवन-संग्राममें विजयी होकर जगत्में आत्मप्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता है। मनुष्यकी इस प्रकारकी स्वभावसिद्ध प्रेरणा होनेपर भी उसके स्वभावका इतना ही पूर्ण स्वरूप नहीं है। उसके भीतर उचित-अनुचितका ज्ञान होता है, विधि और निषेधकी अनुभूति होती है। मनुष्य स्वभावकी प्रेरणा, तथा देहेन्द्रियके प्रयोजनकी प्रेरणामें जो कुछ चाहता या करता है, उसमें भी वह चाहना उचित है या नहीं, करना उचित है या नहीं—ये प्रश्न स्वभावतः मनुष्यकी विवेक-बुद्धिके सामने अपने-आप ही उठते रहते हैं। यह उचित-अनुचितका ज्ञान ही मानवधर्मकी भित्ति है। यह उचित-अनुचितका ज्ञान ही मनुष्यकी स्वाभाविक आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापन कर इन्हें नियन्त्रित करता है। इसी कारण कोई-कोई सम्प्रदाय मानवधर्मको विधि-निषेधात्मक बतलाते हैं। परन्तु उचित और अनुचितका मापदण्ड क्या है ? किस विधि और निषेधके अनुसार मनुष्यमात्रकी आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके सुनियन्त्रित होनेपर वास्तविक धर्मसाधन होगा ? विभिन्न व्यक्तियोंकी उचित-अनुचितसम्बन्धी धारणा उनकी वासना, कामना तथा आसपासकी अवस्थाके प्रभाव तथा शिक्षा-दीक्षाकी विभिन्नताके द्वारा कलुषित हो जाती है। इसी कारण वासना और कामनासे रहित शुद्धचित्त ऋषियोंके हृदयमें स्वयं आविर्भूत सनातन विधि-निषेधकी नीति ही साधारण मनुष्योंके उचित-अनुचित अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें नियामक समझी जाती है। ऋषियोंके चित्तमें आविर्भूत नीतियाँ ही वेदमें शब्दरूप ग्रहण कर रही हैं। वेदनिर्दिष्ट उचित मार्गका अनुसरण करना तथा अनुचित मार्गका परित्याग करना ही मनुष्यका धर्म है।

परन्तु फिर यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य उचित कर्मोंका अनुष्ठान तथा अनुचित कर्मोंका त्याग करके किस उद्देश्यको सिद्ध करेगा ? मानव-जीवनका चरम लक्ष्य क्या है ? किसकी प्राप्ति होनेपर उसको किसी वस्तुकी चाह न रह जायगी ? इन प्रश्नोंका उत्तर खोजते-खोजते मनस्वी पुरुषोंने यह आविष्कार किया कि मानव-जीवनका चरमलक्ष्य है मुक्ति—सारे दुःख-दैन्य, सारे बन्धन, तथा सब प्रकारके अभावसे आत्यन्तिक छुटकारा पाना। इसी मुक्तिको लक्ष्यमें रखकर मनुष्यको मुक्तिप्राप्तिके उपायस्वरूप धर्मकी साधना करनी पड़ेगी, उचित पथका अनुसरण तथा अनुचित पथका त्याग करना होगा। परन्तु इस संसारमें देह, इन्द्रिय और मनके सम्यक् व्यवहारके द्वारा ही जब मनुष्यको धर्म-साधना तथा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करनी है तब स्वास्थ्य, सुख तथा अर्थ आदिकी पूर्णतः उपेक्षा करके मोक्ष-पथकी ओर अग्रसर होना भी सम्भव नहीं है; और इसी कारण परिवार, समाज, राष्ट्र आदिके सम्बन्धमें भी पूर्णतः उदासीन होनेसे काम नहीं चल सकता। अतएव मोक्षके अनुकूल धर्म, धर्मके अनुकूल अर्थ, तथा जीवन-धारणके अनुकूल सुखभोग भी मानवीय साधनाके अङ्गस्वरूप माने जाते हैं।

अतएव मानवधर्ममें मनुष्यके पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये ही धर्मशास्त्रोंमें सब प्रकारके विधि-निषेध, सब प्रकारके उपदेश दिये गये हैं। 'हम ऐहिक-पारलौकिक सुख-सम्पदाका उपभोग करके अन्तमें सब बन्धनोंसे छुटकारा पाकर सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें सदाके लिये स्थित हो जायँ, इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हमारा भीतरी और बाहरी जीवन किस ढंगसे नियन्त्रित होना चाहिये; हमारे परिवार, समाज और राष्ट्रका विधान किस प्रकारका बनना ठीक है एवं हमारा कर्म, भक्ति और ज्ञानका अनुशीलन किस प्रकारका होना उचित है'—मानवधर्मके क्षेत्रमें ये ही विचारणीय विषय हैं। इस क्षेत्रमें जिस प्रकार कर्मसाधना हमारे जीवनको सार्थक करनेके लिये होती है, उसी प्रकार भक्ति और ज्ञानकी साधना भी हमारे जीवनकी पूर्ण सार्थकताकी सिद्धिके उद्देश्यसे की जाती है। यहाँ सब कुछ अपने ही लिये होता है। हमें परमशान्ति मिले—इसलिये ब्रह्मतत्त्वका श्रवण, मनन और निदिध्यासन; हमारा जीवन परमकल्याणस्वरूप बन जाय—इसलिये ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान तथा ब्रह्मानन्दरसके पानका अनुशीलन; हमारे हृदयमें प्रेम और सौन्दर्यका पूर्ण विकास हो—इसके लिये विश्वके स्रष्टा, पालक, नियन्ता तथा संहर्त्ता श्रीभगवान्‌को अनन्तप्रेममय, सम्पूर्ण सौन्दर्यके धाम, आनन्दलीला-विहारी रसराजके रूपमें प्राप्त कर उनके साथ विशेष सम्बन्ध-स्थापनकी चेष्टा तथा इसी उद्देश्यसे भगवान्‌की विचित्र

लीला-कथाओंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आस्वादन किया जाता है। ये सभी हमारे स्वार्थके लिये, हमारे पुरुषार्थकी सिद्धिके साधनरूपमें ग्रहण किये जाते हैं। अतएव ये सब मानवधर्मके अङ्गीभूत हैं। आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने अपने द्वारा संकलित, रचित तथा प्रचारित शास्त्रोंमें इन सभीकी विशदरूपसे आलोचना करके मानव-जगत्का परम कल्याण-साधन किया है।

परन्तु इतनेपर भी आचार्यदेवका कर्तव्य पूर्ण नहीं हुआ, तथा उनका आचार्य-चित्त पूर्णतः आत्मप्रसादको प्राप्त न कर सका। सारे साधन-भजन, समस्त कर्तव्याकर्तव्य, सारी तत्त्वालोचना, कर्म, ज्ञान और भक्तिका सम्पूर्ण अनुशीलन, तथा समस्त लीला-आस्वादनको यदि एक दूसरे ही दृष्टिकोणसे देखा जाय तो इन सबकी सरसतामें अनन्तगुनी वृद्धि हो जाती है। वह दृष्टि ही भागवती दृष्टि है। इसी मानव-ज्ञानके राज्यमें सब विषयोंको भागवती दृष्टिसे देखने तथा इसीके द्वारा मानवीय साधनाके सब विभागोंके नियन्त्रण करनेकी शिक्षा आचार्यदेवने मुख्यरूपसे अबतक नहीं प्रदान की।

भगवान् इस निखिल ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कर्ता हैं। सब मनुष्य, जीव-जन्तु, स्थावर-जङ्गम पदार्थ भगवान्की सृष्टि हैं। भगवान्ने ही उन्हें विशेष-विशेष रूप, प्रकृति, गुण और शक्ति देकर सृजन किया है। जड-जगत्, जीव-जगत् तथा मानव-जगत्में जिन नियमोंका राजत्व देखा जाता है, जितने प्राकृतिक विधान अखिल ब्रह्माण्डके विभिन्न विभागोंपर शासन करते हुए सर्वत्र साम्य और सुश्रृंखलाकी रक्षा कर रहे हैं, भगवान् ही उन सब विधानों या नियमोंके प्रणेता हैं। वे ही सब जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपमें विराज रहे हैं, तथा वे ही बाहर विश्व-नियन्ता-के रूपमें प्रकट हो रहे हैं। वे ही विशेष-विशेष जीवोंको विशेष-विशेष प्रकारकी प्रकृति, शक्ति और प्रवृत्ति प्रदान कर रहे हैं। वे ही उनके द्वारा विशेष-विशेष प्रकारके कार्य करा रहे हैं। वे ही उनको उनके कर्मानुसार सुख-दुःखमय फल प्रदान कर रहे हैं और इन कर्मों और कर्मफलोंके नियमित विधानके द्वारा उनका क्रमिक उत्कर्ष-साधन करते हुए उन्हें सम्यक् पूर्णताकी ओर खींचे ले जा रहे हैं। उन्होंने ही मनुष्यके मन और इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाकर रचा है; उन्होंने ही मन और इन्द्रियोंको सुशासित करने तथा अभीष्ट मार्गपर ले चलनेके लिये उचित-अनुचितका ज्ञान, सत्-असत्का विचार, तथा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की आकाङ्क्षाके साथ उसमें बुद्धि-शक्ति और इच्छा-शक्ति प्रदान की है; वे ही शास्त्रके रूपमें, गुरुके रूपमें और बहुत ऊँचे उठे हुए महापुरुषके रूपमें उन्हें कल्याणका मार्ग दिखला रहे हैं। श्रीभगवान् ही तो सर्वकर्ता और सर्वनियन्ता हैं। हम मानवीय दृष्टिसे जितना घात-प्रतिघात, जितना हिंसा-द्वेष और कलह, जितना अत्याचार-अविचार और जितना प्रलयकाण्ड इस जगत्में देख रहे हैं—वह सभी भगवान्का ही तो विधान है।

इनमें मनुष्यका स्वतन्त्र कर्तृत्व कहाँ है? मनुष्यका स्वतन्त्र पुरुषार्थ कहाँ है? मनुष्यका कर्तव्य ही क्या है? और उसके लिये प्राप्त करने योग्य अथवा त्याग करने योग्य ही क्या है? सभी तो भगवान्के ही कार्य हैं। मनुष्य भी तो अन्यान्य प्राणियों-के समान भगवान्हीके द्वारा सृष्ट और नियन्त्रित जीवमात्र है! वे जिस प्रकार चलाते हैं, हम उसी प्रकार चलते हैं; वह जिस मार्गमें ले जाते हैं; हम उसी मार्गमें जाते हैं; वह जिस लक्ष्यकी ओर जिस पद्धतिके द्वारा हमारे जीवनका विकास करते हैं उसी लक्ष्यकी ओर, उसी पद्धतिके द्वारा हमारे जीवनका विकास होता है। अतएव स्वतन्त्र कर्ता यदि कोई है तो वे स्वयं भगवान् ही हैं। उन्हींके प्रयोजनकी सिद्धि-के लिये उन्हींकी निर्दिष्ट पद्धतिसे उन्हींके मनचाहे मार्गपर उन्हींकी शक्तिके द्वारा संचालित होकर मनुष्यादि सब प्राणी तथा अखिल ब्रह्माण्डके समस्त पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं, परिणामको प्राप्त हो रहे हैं, नाना प्रकारके संघर्षोंके बीच जीवन धारण कर रहे हैं, तथा अन्तमें विलीन होते जा रहे हैं।

परन्तु वे किस लिये ऐसा करते हैं? वे किस उद्देश्यके द्वारा प्रेरित होकर, अथवा किस प्रेरणाके वशीभूत होकर इस प्राणि-जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलयादिके व्यापारमें लगे हुए हैं? यदि वे किसी प्रयोजन, उद्देश्य या प्रेरणाके अधीन हैं तब तो उन्हें स्वतन्त्र, स्वराट् और परिपूर्ण कैसे कहा जा सकता है? किसी प्रयोजन या उद्देश्यके द्वारा यदि कोई कर्ममें प्रवृत्त हो तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें अपूर्णता विद्यमान है; उसे किसी वस्तुका अभाव है। ऐसी दशामें फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कर्म-सम्पादन करनेमें भी पूर्ण स्वतन्त्र है। वे अपने-आपमें अपनेसे ही परिपूर्ण हैं, अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें नित्य विराजमान हैं—इस बातकी तो फिर कोई सार्थकता नहीं रह जाती। अतएव उनकी भगवत्ताके सम्बन्धमें ही सन्देह खड़ा हो जाता है।

वस्तुतः सब कारणोंके कारण भगवान्के सृष्टि-पालन-संहारादि व्यापारमें किसी प्रयोजन, हेतु या उद्देश्यकी बात उठ ही नहीं सकती। यह उनका नित्य स्वभाव है। उनके स्वभावके ऊपर अन्तःस्थित अथवा बहिःस्थित अन्य किसी भी शक्ति, कारण, प्रयोजन या उद्देश्यका प्रभाव न होनेके कारण ही वे पूर्ण स्वाधीन, पूर्ण स्वतन्त्र तथा स्वराट् कहलाते हैं। उनके सारे कर्म अपने नित्य स्वभावके स्वच्छन्द आत्मप्रकाश होते हैं। वे परिपूर्ण ज्ञान-इच्छा-शक्तिमय सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनकी ज्ञानशक्तिके सामने कोई भी सत्य अज्ञात या ज्ञेयरूपमें विद्यमान नहीं है, उनकी इच्छाशक्तिके सामने कोई मङ्गल या पुरुषार्थ अप्राप्त या अभीष्टरूपमें कल्पित नहीं हो सकता, उनकी सम्भोग-शक्तिके सामने कोई सुन्दर वस्तु अनास्वादित या आस्वाद्यरूपमें विचारणीय नहीं हो सकती। उनके अपने स्वरूपसे पृथक् ज्ञेय या ध्येय, प्राप्य या आस्वाद्य, कार्य या त्याज्य कोई भी वस्तु उनके भीतर या बाहर नहीं है। इसी कारण उन्हें तत्त्वदर्शी लोग सत्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप, आप्तकाम और पूर्णकाम, अभिन्न-शक्ति-शक्तिमान्, अच्युतस्वभाव, एक अद्वितीय, आनन्दघन कहते हैं। वे स्वयं ही अपने स्वरूपमें ज्ञाता और ज्ञेय, प्राप्त करनेवाले और करने योग्य, कर्ता और कार्य, तथा सम्भोक्ता और सम्भोग्य हैं। उनके अपने स्वरूपके भीतर यह युगलभाव नित्य विद्यमान है और ये दोनों भाव एक साथ अभिन्नरूपमें एक दूसरेको आलिङ्गन करके उनके स्वभावमें विद्यमान हैं—इसी कारण वे ज्ञानमय, कल्याणमय, आनन्दमय और पूर्ण सत्तामय हैं; नहीं तो वे केवल जड, अव्यक्त या शून्य सत्तावाले ही रहते।

भगवान् अपनेको ही आप नित्य उपलब्ध कर रहे हैं। अपने स्वभावमें स्थित अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यको अपने ही लिये विचित्ररूपमें उपस्थित कर अपने ही उसका सम्भोग कर रहे हैं। यह विश्व-व्यापार उनके इस नित्य आत्मास्वादनका ही बाह्यस्वरूप है। उनका देशकालातीत नित्य आत्मसम्भोग उन्हींकी अनिर्वाच्या मायाशक्तिसे देश और कालमें विचित्ररूपमें स्तर-स्तरमें प्रकट हो रहा है। इसीका नाम है लीला। लीला तत्त्वकी ही प्रकट मूर्ति है—उनके नित्यतत्त्वका दैशिक और कालिक आविर्भाव है; भगवान् अपनेको ही स्वयं अनन्त काल, अनन्त देश, अनन्त भावमें, अनन्त नाम और अनन्त रूपोंमें प्रकट कर रहे हैं। तथा उन सबको अतिक्रम करके उनके कर्ता, नियन्ता, द्रष्टा और सम्भोक्तास्वरूपमें भी नित्य निर्विकाररूपसे विराजमान हैं। असंख्य मनुष्य, असंख्य प्राणी, असंख्य जड पदार्थ—सब उनके ही लीलाप्रकाश हैं तथा उनके ही सम्भोग्य हैं।

मनुष्यकी विशेषता यही है कि वह ज्ञान और प्रेमपूर्वक अनन्त ज्ञान और अनन्त प्रेममय श्रीभगवान्के इस आत्मास्वादनमें योगदान करनेका अधिकारी है, अपने भीतर और बाहर सर्वदा और सर्वत्र भगवान्की इस विचित्र लीलाका सम्भोग करनेमें समर्थ है। उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको श्रीभगवान् अपना सम्भोग्य बना रहे हैं; तत्सम्बन्धी समस्त व्यापारोंमें भगवान् अपने आनन्दास्वादनके उपकरणके रूपमें ही उसे नियन्त्रित कर रहे हैं। मनुष्यके साथ जितने लोगोंका जिस-जिस प्रकारका सम्बन्ध स्थापित होता है, अन्यान्य प्राणियोंके साथ तथा जड प्रकृतिके साथ उसका जिस-जिस प्रकारका सम्बन्ध होता और मिटता है, इन सब सम्बन्धोंमें, उन लोगोंके साथ आदान-प्रदान तथा घात-प्रतिघातमें उसके जितने सुख-दुःखके भोग तथा उसमें जितने प्रकारके भावावेशका सञ्चार हो रहा है, वह सभी भगवान्के रससम्भोगका उपादान है; तथा उनके रस-सम्भोगके लिये ही इन सबका विकास होता है। इस बातको भीतर-ही-भीतर उपलब्ध करनेका अधिकार ही 'मनुष्यत्व' है तथा इस उपलब्धिमें ही मानव-जीवनकी सार्थकता है। जिस मनुष्यको इस सत्य-उपलब्धिकी योग्यता प्राप्त हो जाती है वह अपने देहके साथ, प्रत्येक इन्द्रियके साथ, प्रत्येक मनोवृत्तिके साथ, प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाके साथ भगवान्का साक्षात् योग अनुभव करके आनन्दमें बेसुध हो रहता है; रसराज भगवान् ही इनमेंसे प्रत्येकका प्रेमपूर्वक सम्भोग कर रहे हैं—वह इस बातको जानकर अपनी अहंवृत्तिका पूर्णतः परित्याग करके अपनी सत्ताको प्रेमपूर्वक उनकी सत्तामें विलीन कर देता है। वह भीतर-बाहर प्रेममय होकर अपनी सारी विषमवृत्तियोंको प्रेममें एकीभूत करके, अपने अभिमानको पूर्णतः प्रेमानन्दमें गलाकर, अपने समस्त पुरुषार्थ-साधनकी बुद्धिका परित्याग कर अनन्त प्रेमरसके आधार श्रीभगवान्में पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण कर देता है। यही उसका सब पुरुषार्थोंके परे परम पुरुषार्थ है। वह अभिमानका परित्याग करके जितना ही अधिक प्रेमभावसे भावित होकर श्रीभगवान्में आत्मसमर्पण कर पाता है, भगवान्की अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यमयी स्वरूपास्वादननिरत रसराज-मूर्त्ति भी उतनी ही अधिक उसको प्रत्यक्ष होती है, भगवान् उतना ही अधिक उसके प्रेम-पुनीत अन्तःकरणमें अपनेको प्रकट करके उसके आस्वाद्य

बनते हैं तथा उसके जीवनको आनन्दसे भरपूर कर डालते हैं।

इस भागवती दृष्टिका अनुशीलन—अपने जीवनके प्रत्येक व्यापारमें तथा अखिल विश्वके प्रत्येक व्यापारमें भगवान्‌के आत्मप्रकाश तथा आत्मसम्भोगकी लीलाके आस्वादन करनेकी साधना, इसीका नाम 'भागवतधर्म' है। इससे साधनाके प्रारम्भसे ही भगवान्‌को केन्द्र बनाकर मनुष्य अपने जीवनका विकास करता है। इस धर्मसाधनाके आदिमें भगवान् रहते हैं, मध्यमें भगवान् रहते हैं और अन्तमें भगवान् रहते हैं। इस धर्मकी दृष्टिसे जिस परिमाणमें अहंबुद्धि, जिस परिमाणमें अपने पुरुषार्थलाभकी आकाङ्क्षा, जिस परिमाणमें अपनेको केन्द्र बनाकर पौरुष दिखलानेकी चेष्टा होती है, उसी परिमाणमें मायाके अधीन रहना पड़ता है—उसी परिमाणमें अविद्याका प्रभाव मनुष्यके ऊपर रहता है। मोक्षप्राप्तिकी आकाङ्क्षाके मूलमें भी अहंबुद्धि होती है, उसमें भी इस दृष्टिसे अविद्याका बीज सूक्ष्मरूपसे निहित होता है। अहंको श्रीभगवान्‌के चरणोंमें सम्यक्‌रूपसे समर्पण करना तथा इसी उद्देश्यसे अहैतुकी भक्ति और प्रेमका अनुशीलन करना—यही इस क्षेत्रकी साधना है।

इस साधनक्षेत्रके प्रधान अङ्ग हैं—भगवान्‌की लीलाका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, मनन और निदिध्यासन। स्वभावतः मानवी बुद्धिका अनुसरण करते हुए जिन स्थलोंमें पहले केवल जड प्राकृतिक नियम अथवा जड शक्तियोंका संघर्ष, या जीवविशेष अथवा जीवसमष्टिका कार्य, या मनुष्यविशेष अथवा सम्प्रदायविशेष या जातिविशेषका कार्य दिखलायी देता था, उन सब स्थलोंमें दृष्टिका परिवर्तन करते हुए साधनाके द्वारा श्रीभगवान्‌के लीला-विलासके दर्शनका अभ्यास करना होगा। इस दृष्टिके अनुशीलनके लिये 'सारे ही व्यापार श्रीभगवान्‌के लीला-विलास हैं'—इसे हृदयङ्गम करनेके लिये प्रधान-प्रधान ऐतिहासिक घटनाओंकी, प्रधान-प्रधान प्राकृतिक घटनाओंकी, प्रधान-प्रधान नर-नारियोंके जीवनचरितकी, युगसन्धियोंमें होनेवाली प्रधान-प्रधान क्रान्तिकथाओंकी, जनसाधारणमें प्रचलित आख्यानोंकी 'सब श्रीभगवान्‌की ही लीलाएँ हैं'—इस बुद्धिसे बार-बार आलोचना करना, चिन्तन करना, विचारना, श्रवण करना तथा कीर्तन करना आवश्यक है। ऐसा करते-करते दृष्टि-शुद्धि होती है तथा प्राकृतिक दृष्टिको दबाकर क्रमशः भागवती दृष्टि प्रधान हो उठती है।

इस प्रकारके अनुशीलनके साथ-साथ यह भी अनुभव होता है कि श्रीभगवान् हमलोगोंको कितना प्यार करते हैं। भगवान्‌की प्रत्येक लीला-कथामें ही जीवके प्रति भगवान्‌का असीम प्रेम प्रकट होता है। उनकी सारी लीला प्रेमलीला ही तो है, उनमें उनके प्रेमानन्दस्वरूपका ही आत्मप्रकाश तथा आत्मसम्भोग होता है। हमारे भेदबोधके समय भी हमारे प्रति उनके प्रेम और करुणाके रूपमें ही उनकी ये सब लीलाएँ अभिव्यक्त होती हैं। हमलोगोंके प्रति भगवान्‌का जो अहैतुक प्रेम है, उसका स्मरण करते-करते स्वभावतः ही भगवान्‌के प्रति भी हमारा प्रेम जाग्रत् हो जाता है और वह प्रेम क्रमशः विकसित होकर अन्यान्य समस्त मनोवृत्तियोंको अभिभूत या अनुरञ्जित कर डालता है। भगवान्‌की प्रेम-लीलाका श्रवण-मनन आदि जितना ही व्यापक और गहरा होता है, भगवान्‌के प्रति हमारा प्रेम भी उतना ही विकसित हो जाता है; तथा इस प्रेम-विकासके साथ ही अहंबुद्धिका नाश और भीतर-बाहर भगवान्‌के रसस्वरूपकी उपलब्धि भी उतनी ही अधिक होती है। भगवान्‌ने अपनी ह्लादिनी शक्तिको मनुष्यकी अन्तरात्माके भीतर सदासे प्रतिष्ठित कर रक्खा है। अपनी सम्पूर्ण सत्ताको, व्यावहारिक जीवनके सारे विभागोंको इस ह्लादिनी शक्तिके अनुगत तथा इसीकी भावनासे भावित करना ही मनुष्यकी साधना है।

मानवसमाजको इस भागवतधर्मकी शिक्षा देनेके लिये भगवान्‌की लीला-कथाओंके और मुख्यरूपसे मनुष्यादि सब प्राणियोंके प्रति उनके प्रेम और दयाकी बातके समाजमें सर्वत्र प्रचारकी व्यवस्था करना ही प्रधान कार्य है। यह धर्म मनुष्यका सहज धर्म है; क्योंकि प्रेम मनुष्यके लिये स्वभाव-सिद्ध है; और मनुष्य जिसके द्वारा प्रेम प्राप्त करता है, उसी-की ओर स्वभावतः उसका भी प्रेम प्रवाहित होता है। मनुष्य जब भगवान्‌को अपना सबसे बढ़कर प्रेमी मान लेता है, तब मनुष्यके अन्तःकरणमें निहित प्रेमवृत्ति सहज ही उनकी ओर दौड़ पड़ती है; इसीलिये मानवसमाजमें भगवान्‌की लीलाका प्रचार करना आचार्य व्यासदेवका एक मुख्य कर्तव्य था।

देवर्षि नारदने आचार्य कृष्णद्वैपायनको बतलाया कि मानवधर्मका नाना प्रकारसे समाजमें प्रचार करनेपर भी उन्होंने भागवत धर्मका मुख्यरूपसे प्रचार नहीं किया, उन्होंने श्रीभगवान्‌की लीला-कथाकी प्रधानरूपसे जगत्‌में घोषणा नहीं की। इसीसे उनके द्वारा सत्य और धर्मकी एक प्रधान दिशा-में नियमबद्ध शिक्षादानकी व्यवस्था न हो सकी, उनका

आचार्यभावाविष्ट चित्त भी इसी कारण स्वस्थताका अनुभव नहीं करता। किस पद्धतिसे मानवसमाजको भगवान्‌के लीला-तत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिये—इस विषयमें देवर्षिने आचार्य-देवको संक्षेपमें उपदेश दिया, तथा समाधिनिष्ठ होकर उस तत्त्वके सम्यक् अनुसन्धानमें अपने आपको लगानेका आदेश प्रदान किया। आचार्यदेवके समाधिके द्वारा परिशुद्ध चित्तमें भगवान् स्वयं ही अपनी लीलाओंका विस्तृतरूपमें प्रकाश करेंगे, यह आशीर्वाद देकर भागवतधर्मगुरु देवर्षि नारदने उनको भागवतशास्त्रकी रचना करनेकी आज्ञा देकर प्रस्थान किया। आचार्यदेवका चित्त प्रसन्न हो गया। वे समाधिमें भागवती लीलाको प्रत्यक्ष कर प्रेम-परिप्लुत हृदयसे उसका वर्णन करने लगे। भागवतशास्त्रकी रचना, तथा मानव-समाजके प्रत्येक स्तरमें उसके प्रचारकी व्यवस्था करके महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनने अपने आचार्य-कृत्यको समाप्त किया। तदनन्तर उन्होंने कर्मक्षेत्रसे बिदा ली। भारतीय साधनाकी परिपूर्ण मूर्त्ति आचार्य कृष्णद्वैपायनकी कृपासे मानवसमाजके नेत्रोंके सम्मुख श्रीमद्भागवतके रूपमें उपस्थित हुई।

श्रीमद्भागवतमें हिंदूदर्शन और हिंदूधर्मका समन्वय

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीयुत के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

प्रस्तुत लेखमें मेरा उद्देश्य यह बतलानेका है कि गीताकी तरह भागवत भी समन्वयका शास्त्र है और इसे भी प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) में जोड़कर प्रस्थानचतुष्टय बना लेना चाहिये (श्रीवल्लभाचार्यने ऐसा ही किया भी है); क्योंकि यह भी उन्हींके समान मूल्यवान्, ईश्वर-प्रेरित और प्रेरणा भरनेवाला है। मुख्यतः इसे भक्ति-शास्त्र माना जाता है, परन्तु भक्तिकी आवश्यकता तो साधनाके सभी मार्गोंमें है। क्या कर्म-मार्ग, क्या ज्ञान-मार्ग और क्या भक्ति-मार्ग—भक्ति तो सबका प्राण ही है। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त प्रस्थानत्रयीकी आत्मा है—'भागवत'।

और, कितने आश्चर्यकी बात है कि वाल्मीकिरामायणमें भी और भागवतमें भी मूल प्रेरणा है देवर्षि नारदकी ही। अर्थात् भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग—भागवतमें भक्तिमार्ग और रामायणमें कर्ममार्ग—दोनोंहीके आचार्य हैं नारद। नारद ही वाल्मीकिके और व्यासके, साथ ही ध्रुवके और प्रह्लादके गुरु हैं। नारदने सनत्कुमारसे ज्ञान और ध्यानकी शिक्षा पायी। इस प्रकार नारदजी सदासे ही मनुष्य और भगवान्‌के बीच मध्यस्थ हैं—ये बराबर मनुष्यको भगवान्‌के पथमें प्रेरित एवं उत्साहित करते रहते हैं। दक्षिण भारतमें यह बात सभी जानते और मानते हैं कि देवर्षि नारदने ही गायक संत त्यागराजको स्वप्नमें 'स्वरार्णव' ग्रन्थ देकर सङ्गीत-शास्त्रमें दीक्षित किया और सङ्गीतकी साधना तथा साधनामय सङ्गीतमें परिनिष्ठित किया।

'भक्ति' क्या है ? नारदभक्ति-सूत्र तथा शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें इसकी बहुत सुन्दर, बड़ी मार्मिक व्याख्या है। गीतामें बहुत संक्षेपमें परन्तु बड़ी उत्तमताके साथ भक्तिका रहस्य खुला है। भागवत तो भक्तिका भरपूर भंडार ही है—सच पूछिये तो यह भक्तिसे लबालब भरा है; भक्तिकी इतनी विशद व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। प्रभु ईशामसीहके शब्दोंमें भक्तिका अर्थ है सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण आत्मा और सम्पूर्ण मन-प्राणके साथ भगवान्‌के लिये प्रेम—"It is love of God with all thy heart and with all thy soul and with all thy mind." नारदने भक्तिको 'परमप्रेम' माना है। शाण्डिल्यने 'ईश्वरमें परानुरक्ति' को भक्ति माना है। यह 'अनुरक्ति' या 'आसक्ति' इतनी प्रबल होती है, अनन्यता इतनी प्रगाढ़ होती है कि भक्त और भगवान्‌के बीच किसी तीसरेकी इसमें गुंजाइश ही नहीं है। यह 'अनुराग' अनन्य और अविच्छिन्न होता है।

भगवान्‌के प्रति जिसके हृदयमें इस दिव्य अनुराग या आसक्तिका उदय होता है, उसे कोई भी प्रलोभन लुभा नहीं सकता, कोई भी आकर्षण डिगा नहीं सकता, कोई विपत्ति विचलित नहीं कर सकती, कोई भय डरा नहीं सकता और संसारकी किसी भी वस्तुमें यह शक्ति नहीं कि उसकी प्रीतिको धूमिल कर सके; क्योंकि वह अपने परम प्रियतमको सर्वत्र देखता है और इसीलिये उसके हृदयमें किसी भी व्यक्ति या वस्तुके प्रति न राग ही होता है न तो द्वेष ही, न मोह ही होता है, न तो घृणा ही। इस परम प्रेममें, इस परानुरक्तिमें सब प्रकारकी इच्छाओंका अपने-आप लय हो जाता है, और हृदयमें भगवान् इस प्रकार आ विराजते हैं कि हृदयका कोना-कोना भगवान्‌से भर जाता है—इतना भर

जाता है कि हृदयमें किसी भी प्रकारकी इच्छाके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता; यहाँतक कि मोक्षकी इच्छा भी वहाँ प्रवेश नहीं पाती—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

और तो क्या—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ भी भगवत्प्रीतिके सामने सर्वथा तुच्छ लगती हैं और दिये जानेपर भी भगवान्‌का प्रिय निजजन उन्हें ठुकरा देता है; क्योंकि उसका चित्त भगवत्प्रेम और भगवत्सेवामें लुभाया जो है। नारदने इस प्रेमका निर्वचन बड़े अनोखे ढङ्गसे किया है। वे कहते हैं कि यह 'गुण-रहित' होता है—अर्थात् इसमें किसी गुणकी अपेक्षा नहीं होती। यह 'कामना-रहित' होता है—अर्थात् इसमें लोक-परलोककी कोई कामना–वासना–इच्छा नहीं होती और यह क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है—इसकी कहीं 'इति' नहीं होती; यह 'अविच्छिन्न' होता है—गङ्गाकी धाराकी तरह यह अखण्ड होता है और है यह बहुत ही सूक्ष्मतम; क्योंकि यह अनुभवरूप है—अर्थात् यह इतना सूक्ष्म है कि इसका एकमात्र अनुभव ही होता है, शब्दोंमें इसका निर्वचन हो नहीं सकता। विलक्षण बात तो यह है कि परमप्रेम अथवा परानुरक्तिकी अनुभूति होते ही शाश्वती शान्ति तथा परम आनन्दका रसास्वादन होने लगता है। कारण कि यह अनुरक्ति स्वयं शान्तिरूप है, परमानन्दरूप है। कर्मोंको इसमें छोड़ना नहीं पड़ता प्रत्युत श्रीकृष्णार्पणभावसे, सर्वात्मसमर्पणभावसे, निष्कामभावसे और अपने परम प्रियतमके प्रीत्यर्थ सारे कर्म होते हैं और वे दिव्य होते हैं; क्योंकि उनका सीधा सम्बन्ध श्रीकृष्णसे हो जाता है। कर्मका उद्देश्य कर्म नहीं होता अपि तु होता है—श्रीकृष्णप्रेम। नित्य शान्ति तो उत्तम है ही, परन्तु इससे भी उत्तम है नित्यदास्य; इससे भी उत्तम है नित्यसख्य; नित्यवात्सल्य इससे भी उत्तम है और नित्यमाधुर्य तो सुन्दरातिसुन्दर, परमोत्तम है—

'त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यं प्रेमैव कार्यम्।'

श्रीमद्भागवतका यही आदेश है कि इस प्रकारकी भक्ति सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि, सारूप्य और सायुज्य—इन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंसे श्रेष्ठ है। भक्ति कैवल्यसे भी श्रेष्ठ है; और तो क्या, सच तो यह है कि मुक्ति भक्तिकी दासी है और भक्तिके सङ्केतपर नाचती है—

कृष्णभक्तिः कृष्णदास्यं वरेषु च वरं वरम्।
श्रेष्ठा पञ्चविधा मुक्तिर्हरिभक्तिर्गरीयसी॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'कृष्णभक्ति, श्रीकृष्णका दास्य वरणीय वस्तुओंमें सबसे श्रेष्ठ वर है। पाँच प्रकारकी मुक्ति तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु हरि-भक्ति उससे भी ऊँची है।'

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(श्रीमद्भागवत)

'भगवत्प्रेमियोंके क्षणभरके सङ्गकी बराबरी स्वर्ग तो क्या, मोक्ष भी नहीं कर सकता; फिर मर्त्यलोकके भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥
(श्रीमद्भागवत)

'कमलनयन भगवान्‌के चरणारविन्दमकरन्दसे मिली हुई तुलसीमञ्जरीकी गन्धसे सुवासित वायुने निरन्तर ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहनेवाले उन मुनीश्वरोंके नासारन्ध्रोंसे उनके अन्तः-करणमें प्रवेश करके उनके शरीरोंको रोमाञ्चित कर दिया और उनके मन तथा शरीरमें भी खलबली पैदा कर दी।'

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि॥
सत्यादिस्त्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी॥
इति निश्चित्य चिद्रूपः सद्रूपां त्वां ससर्ज ह।
परमानन्दचिन्मूर्तिः सुन्दरीं कृष्णवल्लभाम्॥
बद्ध्वाञ्जलिं त्वया पृष्टं किं करोमीति चैकदा।
त्वां तदाऽऽज्ञापयत् कृष्णो मद्भक्तान् पोषयेति च॥
अङ्गीकृतं त्वया तद् वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा।
मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ॥
....
मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिञ्च सह कृत्वा गता भुवि।
कृतादिद्वापरस्यान्तं महानन्देन संस्थिता॥
कलौ मुक्तिः क्षयं प्राप्ता पाखण्डामयपीडिता।
त्वदाज्ञया गता शीघ्रं वैकुण्ठं पुनरेव सा॥
स्मृता त्वयापि चात्रैव मुक्तिरायाति याति च।
....

कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने॥
(श्रीमद्भागवतमाहात्म्य २। ३-१३)

पद्मपुराणमें श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ये श्लोक आये हैं। नारदजी भक्तिको समझा रहे हैं—"बाले! तू वृथा खेद करती है। तू तो भगवान् श्रीकृष्णको सदा ही प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है। तेरे बुलानेपर तो भगवान् नीच पुरुषोंके घरोंमें भी चले जाते हैं। सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंमें तो ज्ञान और वैराग्य मुक्तिके साधन थे; किन्तु इस कलियुगमें तो केवल तू भक्ति ही ब्रह्मसायुज्यकी प्राप्ति करानेवाली है। ऐसा सोचकर ही परमानन्दचिन्मूर्ति ज्ञानस्वरूप श्रीहरिने अपने सत्स्वरूपसे तुझे रचा है। तू साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिया और परम सुन्दरी है। एक बार जब तूने हाथ जोड़कर पूछा था कि 'मैं क्या करूँ?' तो भगवान्ने तुझे यही आज्ञा दी थी कि 'मेरे भक्तोंका पोषण कर।' तूने भगवान्की वह आज्ञा स्वीकार कर ली; इससे तुझपर श्रीहरि बहुत प्रसन्न हुए और तेरी सेवा करनेके लिये मुक्तिको तुझे दासीरूपमें दिया और ज्ञान-वैराग्यको पुत्ररूपमें। 'सुमुखि! कलिके समान तो कोई भी युग नहीं है; इस युगमें मैं तुझे घर-घरमें, प्रत्येक पुरुषके हृदयमें स्थापित कर दूँगा।"

परन्तु भागवतका केवल भक्तिशास्त्र कहकर परिचय देना ठीक नहीं। इसमें तो सभी स्वरोंका इस अनूठे ताल और लयके साथ संयोग हुआ है कि निष्काम कर्म तेजोदीप्त होकर ध्यानका रूप धारण कर लेता है और भक्ति तथा ज्ञानके आलाप उसमें इतने एकरस हो गये हैं कि इन्हें अलग-अलग करके समझना कठिन हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतका मूलगत समन्वय इतना स्पष्ट है कि इसे एकान्ततः द्वैतपरक या अद्वैतपरक कहना इसके साथ अन्याय करना है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत उस परमतत्त्वको समझनेके साधनमात्र हैं—उसी 'एक' को देखने और समझनेकी विभिन्न दृष्टियाँ हैं। स्वयं गीताने भी इसी दृष्टिका समर्थन किया है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
(९। १५)

'मुझ विराट्स्वरूप परमात्माकी ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजा करते हुए कुछ लोग एकत्वभावसे उपासना करते हैं और दूसरे स्वामी-सेवक-भावसे और कोई-कोई बहुत प्रकारसे भी उपासना करते हैं।'

भेद और पृथक्त्वका अनुभव तो हमारी इन्द्रियाँ स्वयं करती ही रहती हैं—इसके लिये शास्त्रकी सम्मतिकी अपेक्षा है ही कहाँ। बुद्धि जब इस भेदके भीतर अभेदको नहीं पकड़ पाती—मणियोंमें सूत्रको नहीं देख पाती, तभी इसे नानात्वका आभास होता है। परन्तु बुद्धि जब इस नानात्व, भेद और वैषम्यमें पिरोया हुआ एक तार देख लेती है—एकरसताका आस्वादन करके उसे रसमय 'कारणं कारणानाम्' के साथ युक्त करके देखना-समझना जान जाती है तो उसे सहज ही इस अनेकमें 'एक' का बोध हो जाता है। कार्यका जब कारणमें विलयन हो जाता है तो विभिन्नताका—नानात्वका अपने-आप विलोप हो जाता है; क्योंकि वहाँ 'एक' के अतिरिक्त 'और कुछ' है ही नहीं, न कभी था और न होगा। इस प्रकार आत्मानुभवके जितने भी प्रकार हो सकते हैं—सबका समाहार उपनिषदोंमें है, ब्रह्मसूत्रमें है और गीतामें है और इन सबकी जो चरम परिणति है उसका निदर्शन श्रीमद्भागवतमें है; और इसीलिये तो श्रीमद्भागवतको प्रस्थानत्रयीकी त्रिमूर्तिको व्याप्त करनेवाली तुरीयमूर्ति कहा जाता है।

अच्छा, यह तो जान लेना चाहिये कि 'अध्यात्म'का अर्थ और भाव क्या है। संक्षेपमें और सबकी समझमें आनेवाली भाषामें कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि 'अध्यात्म' वह विद्या है, जिसके द्वारा विश्व-ब्रह्माण्डके मूलमें निवास करनेवाले परम सत्यका साक्षात्कार होता है और जिस विद्याके द्वारा ब्रह्माण्डके समग्र रूपका तथा इसके अङ्गोंके साथ—अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके परस्पर सम्बन्ध-सूत्रका ज्ञान होता है। इस 'सत्य' को यदि हम शब्दमें व्यक्त करना चाहें तो अखण्ड सच्चिदानन्द 'ब्रह्म' कहेंगे। यह हुआ स्वरूप-लक्षण। जगत्से सम्बन्धित होनेके नाते उसे ही 'ईश्वर' कहते हैं—यह हुआ तटस्थ लक्षण। ईश्वर ही जब अपने सर्वव्यापक विराट्रूपमें होता है तो उसे कहते हैं 'परमात्मा'; लोकातीत अपरिच्छेद्य अवस्थामें उसीका नाम सविशेष ब्रह्म अर्थात् 'भगवान्' है। विधानके रूपमें उसीको जगत्पिता 'जगदीश्वर' कहते हैं और प्रेम तथा दयाके रूपमें उसे ही जगज्जननी जगन्माता महामाया 'महेश्वरी' कहते हैं।

उस परात्पर सत्यके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूपमें समन्वय तो होना ही चाहिये। ब्रह्मजिज्ञासाके द्वारा हम

उस परात्पर सत्यको, जिसे दूसरे शब्दोंमें 'ब्रह्म' कह लीजिये, आनन्दमय—चिन्मयरूपमें अनुभव कर सकते हैं। एकमात्र वही सत्ता है जो सृजन-पालन-संहार करती है—शास्ता भी वही है और वही मोक्षदाता—

'आनन्दमयोऽभ्यासात्'; 'जन्माद्यस्य यतः'
(ब्रह्मसूत्र १ । १ । १३; १ । १ । २)

बुद्धि जब निर्मल और शुद्ध होती है, सब प्रकारके प्रपञ्चोंका उपशमन हो चुकनेपर जब उसमें दिव्य पवित्रता आती है तो उसके द्वारा हम उस अखण्ड सच्चिदानन्दघनका ईश्वररूपमें सान्निध्यलाभ कर सकते हैं, उससे प्रेमका सम्बन्ध जोड़ सकते हैं; अथवा 'तत् त्वम्' 'सोऽहम्'का बोध करते हुए उसके साथ अपनी अभेदताका अनुभव कर सकते हैं। ईश्वरकी कर्तृत्व-शक्तिका ही नाम शक्ति, प्रकृति या माया है—हम जिस दृष्टिकोणसे उसे देखेंगे, उसीके अनुसार उसके नाममें भेद दीखेगा। सांख्यने प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके भूल यह की कि ईश्वर और ईश्वरकी शक्तिको पृथक्-पृथक् करके शक्ति और शक्तिमान्‌की दो स्वतन्त्र सत्ताएँ कायम कर दीं। जीव, जगत् और ईश्वर—यह मूलतः, तत्त्वतः ब्रह्मही के व्यक्त स्वरूप तो हैं। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुणोंको लाँघकर जब बुद्धि निस्त्रैगुण्य-अवस्थामें परम शुद्ध एवं निर्मल हो जाती है तो ध्यानयोगके द्वारा इसे एकाग्रता और शक्ति मिलती है, भक्तियोगके द्वारा इसकी रसमयी वृत्तियोंका विस्तार होता है और ज्ञानयोगके द्वारा इसे अन्तःप्रज्ञा प्राप्त होती है, जिसके द्वारा यह उस अनन्त परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार करती है और होता यहाँतक है कि वृत्ति निरन्तर अखण्डाकार बनी रहती है। इतना ही क्यों, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टिके बाद क्रमशः भगवान्‌में लीन होकर यह सायुज्य प्राप्त कर लेता है अथवा निर्गुण ब्रह्मके साथ एकरूपता–अभिन्नता प्राप्त कर कैवल्य पा सकता है; क्योंकि वह यह अनुभव करता है कि ब्रह्मके सिवा और कुछ है ही नहीं—'नेह नानास्ति किञ्चन'। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्यका निदर्शन भगवान् रामचन्द्रने महाभागवत श्रीहनुमान्‌के प्रति मुक्तिकोपनिषद्‌में किया है।

ऊपर हम जो लिख आये हैं, उसका भलीभाँति और पूर्णतः समर्थन आधुनिक विज्ञान करता है। विज्ञानने अब समझा है कि प्रकृतिमें जो कुछ भी हम क्रिया देखते हैं, उसका कारण उसके मूलमें निवास करनेवाली कोई 'शक्ति' है; और विज्ञान स्पष्ट शब्दोंमें भले इसे स्वीकार न करे, परन्तु यह कह तो रहा ही है—इस 'शक्ति' के मूलमें कोई चित्स्वरूप मनस्तत्त्वका स्पन्दन अवश्य है। इसलिये यह तो बड़ी आसानीसे समझा जा सकता है कि मन-चित्त-बुद्धि-अहङ्कारके मूलमें, साथ ही इस प्रकृतिके मूलमें—जड़ और चेतन दोनों ही तत्त्वोंके मूलमें दिव्य चेतन सत्ता है और ये दोनों ही उसी 'एक' के प्रकार हैं।

ली कौन्ते (Le Conte) ने कहा है कि विज्ञान विचारकी एक धाराके साथ बहता-बहता एक सीमापर चला गया और वह है सर्वव्यापक सत्ताका अनुसन्धान। दर्शनने उसे सुधारा या सँवारा नहीं, वह अपने-आप इस निष्कर्षपर पहुँचा कि कोई अखिल, व्यापिनी सत्ता है जो जड-चेतन सबमें समानरूपसे ओतप्रोत है। और श्रद्धालु भक्त अपने भीतरकी जिज्ञासाका अनुसरण करता हुआ एक दूसरी सीमापर जा पहुँचा, और वह या सगुण-साकार विग्रह। तत्त्वको वस्तुतः परखनेवाली दृष्टि दोनोंको—निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारको स्वीकार करती हुई चलेगी, भले ही इन दोनोंकी स्वरूपगत अभेदताको हम सिद्ध न कर सकें।*

और यह विविधता और वैचित्र्य है क्या? क्या यह 'एक' का ही अनेक रूप और आकार नहीं है? ज्ञानके एक शिखरसे दूसरे शिखरपर बुद्धि चढ़ती-चढ़ती इतनी ऊँचाईपर चली जाती है कि ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशित होकर सायुज्य लाभ करती हुई 'तत्त्वमसि' के अखण्ड अनन्त आनन्दमें डूब जाती है, निमग्न हो जाती है। परात्पर योग,

* Science following one line of thought, uncorrected by a wider philosophy, is actually led towards one extreme—pantheistic immanence; the devout worshipper following the wants of his religious nature is naturally led towards another extreme—anthropomorphic personality. The only rational view is to accept both immanence and personality, although we cannot cleary reconcile them, *i. e.*, immanence without pantheism and personality without anthropomorphism.

जिसमें कभी वियोग होता ही नहीं, यही तो है। यह कोई अमर दान हो ऐसी बात नहीं है—यह तो है अखण्ड अमृतानुभव। इन्द्रियोंसे मनमें, मनसे बुद्धिमें, बुद्धिसे आत्मामें—इस प्रकारकी चढ़ाईको हम खड़ी चढ़ाई समझ लें या समतल क्षेत्रमें अधिकाधिक विस्तार—एक ही बात है। है यह आत्मानुभूतिके विभिन्न स्तर। 'अमृतत्व' का अर्थ यह कदापि नहीं कि शरीरसे हम अमर हो जायँ, उसका अर्थ तो यह है कि हम अपने अंदर छिपे हुए अनन्त अपार आनन्दघनका अनुभव करें। मर्त्य इसीसे अमृत हो जाता है, क्योंकि वह अपने-आपमें अनन्त ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है—'अथ मर्त्योऽमृतो भवति अन्तर्ब्रह्म समश्नुते।'[२]

इस प्रकार धर्माचरणका भाव पहले तो बाहर-बाहरसे स्वीकार किया जाता है, परन्तु क्रमशः वह अंदर पैठने लगता है और वास्तविक धर्माचरण तो आन्तरिक ही होता है। बाहरसे हम जो कुछ जानते-पाते-सीखते और ग्रहण करते हैं, वह पक्का तभी होता है जब हम अपने अंदर उसकी सम्यक् अनुभूति कर सकें। योगकी रहस्यमयी साधनाद्वारा हमारे भीतर एक ऐसी दृढ़ता आती है, जिसका वर्णन या विश्लेषण बाहर-बाहरसे हो ही नहीं सकता। बाहर-बाहरसे दिखलानेके लिये जो कुछ किया जाता है, उसकी परिणति भी दिखलानेमें ही है—बाह्याचारका जबतक हृदयसे योग नहीं, तबतक तो वह केवल प्रदर्शन या दूसरे शब्दोंमें दम्भ-पाखण्डमात्र है। और प्रदर्शनका अन्त प्रदर्शनमें ही हो जाता है। कर्मकाण्ड तथा धर्मके जो अनेकानेक बाह्याचरण हैं, वे वस्तुतः धर्मकी बाहरी चहारदीवारी हैं। मुख्य वस्तु, सारतत्त्व है—आत्मज्ञान। विश्लेषणके गर्भमें संश्लेषण छिपा बैठा है और उसकी चरम परिणति है सर्वव्यापक एकताकी सम्यक् अनुभूति। इस अनुभूतिको प्राप्त करनेवालेको ही हम ऋषि, योगी, संत, महात्मा मनीषी कहते हैं। पञ्चकोषोंमें एकसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें—इस प्रकार पाँचोंको पार कर हम सत्यका साक्षात्कार करते हैं और उसमें हमें एक ऐसी दिव्य अनुभूति होती है, जैसा ईशोपनिषद्के अन्तमें ऋषिने कहा है—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'—वह परम पुरुष जो है वही मैं हूँ, वही मैं हूँ। इस अनन्त अखण्ड आनन्दका ही दूसरा नाम परम सत्य, परम शिव, परम सुन्दर है। इस अनुभूतिमें आत्मा-परमात्माका अखण्ड, अविभेद्य योग होता है और इसे ही कहते हैं अनुभव, अवगति या साक्षात्कार। यह शून्यत्वकी स्थिति नहीं है अपि तु परम पूर्णत्वकी है—'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'की है। यह अखण्ड अनन्त सच्चिदानन्दकी दिव्य स्थिति है।

प्रोफेसर मैक्समूलरने वेदान्तको ठीक ही चूड़ान्तदर्शन एवं परम तृप्तिकर धर्म "the most sublime Philosopy and the most satisfying religion" कहा है। जगत्को दृष्टिमें रखकर जब हम विचार करते हैं तो वह परात्पर कूटस्थ ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहलाता है। योरोपके बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान् हेगेलने कहा है—"Without the world, God is not God. If there is no universe, there can be no God." अर्थात् जगत्के बिना ईश्वर ईश्वर नहीं है—सृष्टि नहीं तो ईश्वर नहीं। इसी सत्यका प्रतिपादन तैत्तिरीय उपनिषद् करता है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'—अर्थात् उसी 'एक' से इन सभी भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, उसी 'एक' से सभी जीवित हैं और अन्तमें उसीमें सभीका लय हो जाता है, सभी उसीमें समा जाते हैं। वेदान्तसूत्र १।१।२ पर भाष्य लिखते हुए शङ्कराचार्यजी लिखते हैं—'अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति'—प्रकृतिमें जो कुछ हम नियम देखते हैं, उसका एकमात्र कारण है ईश्वरकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता। हम अपनी भाषामें उसे चाहे जो कह लें—ईश्वर कहें, जेहोवा कहें, अल्लाह कहें; वह है सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक।

एक आधुनिक लेखकने बड़े सुन्दर ढंगसे इसी बातको कहा है—"Religion demands, as the very condition of its existence, a God who transcends the universe; philosopy as imperiously requires his immanence in Nature." भावार्थ यह कि धर्मकी सत्ता ही इस बातपर टिकी है कि एक ईश्वर है जो लोकसे परे है, और दर्शनकी माँग यह है कि वह सत्ता लोकमें व्याप्त है—ओतप्रोत है। हिंदूधर्मके लिये यह अवश्य ही बड़े गौरवकी बात है कि इसने धर्म और दर्शनकी माँगको स्वीकार किया है और भगवान्के परात्पर कूटस्थ एवं सर्वव्यापकरूपमें समन्वय स्थापित किया है। श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीतामें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन बड़े ही विशद एवं गम्भीर ढंगसे हुआ है। गीता कहती है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१० । ४२)

'इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैं एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।'

और फिर—

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'—सबके हृदयदेशमें मैं बैठा हुआ हूँ; तथा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—हे अर्जुन ! सब भूतोंके हृदयमें ईश्वर बैठे हुए हैं ।

धर्म और दर्शनका यह महान् समन्वय ही भागवतकी महान् महिमा है । योरोपने दर्शन और धर्मको अलग-अलग कर रक्खा है, परन्तु भारतवर्षने इन दोनोंको मिला दिया है । उस दार्शनिक ऊहापोहका महत्त्व ही क्या है, जिसका हमारे जीवन तथा प्रकृतिसे कहीं कोई मेल ही न हो ? या धर्मकी उस उमंगका ही जीवनमें क्या महत्त्व है जो तर्ककी कसौटी-पर खरी न उतरे ? वह धर्म जो जीवनके गम्भीर प्रश्नोंकी उपेक्षा करे हमारे किस कामका ? विज्ञानका पुष्प जब खिल उठता है तो वह दर्शनकी सुगन्धि बिखेरने लगता है और उसीमें जब फल लगनेको आते हैं तो वह 'धर्म' कहलाता है । विज्ञान, दर्शन और धर्मका परस्पर यही सम्बन्ध है, नहीं तो तीनोंकी लड़ी टूट जानेपर एकका भी पता नहीं चलता । श्रीमद्भागवतके आरम्भमें ही जो सबसे पहला श्लोक है उसीमें इन तीनोंका कितना मधुर, कितना सुन्दर समन्वय है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥
(१ । १ । १)

समस्त कार्य-कारणात्मक जगत्‌में जो अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही दृष्टियोंसे व्यापक है अर्थात् जिसकी सत्तासे ही सम्पूर्ण वस्तुएँ सत्तावाली हैं और जिसकी सत्ताके बिना किसी-की सत्ता सिद्ध ही नहीं हो सकती—इसीसे इस जगत्‌के जन्म, पालन एवं संहारादि जिसके द्वारा होते हैं, जो सर्वज्ञ तथा स्वयंप्रकाश है और जिस वेदके सम्बन्धमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी मोहित हो जाते हैं—सर्गके आरम्भमें ब्रह्माजीको उन वेदोंका ज्ञान-दान उसीने किया है; जिसके सत्यस्वरूपमें यह त्रिगुणमयी सृष्टि उसकी सत्ताकी दृष्टिसे तो सत्य है परन्तु भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी दृष्टिसे असत्य भी है; जिसके अपने ज्ञानमय प्रकाशसे माया, छल, कपट आदि नित्य-निरन्तर दूरसे ही निरस्त रहते हैं, उस परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका हम प्रेम और एकाग्रतासे चिन्तन करते हैं ।

श्लोकका पहला पद 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्मसूत्रके दूसरे सूत्रका स्मरण दिलाता है । आरम्भमें ईश्वरको इसी प्रकार स्मरण किया गया और अन्तमें 'सत्यं परं' के रूपमें । 'सत्यं परं धीमहि' परब्रह्म-गायत्री है । इस प्रकार ब्रह्मके तटस्थ-लक्षणसे यह श्लोक शुरू होता है और स्वरूपलक्षणमें समाप्त हो जाता है । श्रीधरस्वामीने अपने भाष्यमें लिखा है—

'तमेव स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यां उपलक्षयति ।'

यह समझना सरासर भूल है कि ईश्वर और ब्रह्म दो विभिन्न वस्तुएँ हैं । सविशेष ब्रह्म ही ईश्वर है । और निर्विशेष ईश्वर ही ब्रह्म है । यह सम्बन्ध बाहरसे आरोपित हुआ हो, ऐसी बात नहीं । यह सम्बन्ध लीलावश स्वयं निर्मित-स्थापित है । 'ईश्वर' शब्द ही ऐसा है, जिसमें व्यापकत्व एवं परत्वकी सन्धि है । 'परमात्मा' शब्दमें व्यापकत्व एवं 'भगवान्' में परत्व है । श्रीमद्भागवतने इस सत्यका प्रतिपादन बड़े अनोखे ढंगसे किया है, जहाँ किसी प्रकारके भी सन्देहकी गुंजाइश है ही नहीं—

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।
(श्रीमद्भा० १ । २ । ११)

परन्तु यहीं यह समाप्त नहीं हो जाता । हमारे देशमें तो इस बातको लेकर बड़े विकट शास्त्रार्थ हुए हैं और होते रहते हैं कि भगवान् सगुण है कि निर्गुण, साकार है या निराकार ? यह वाग्युद्ध भी निस्सार है; क्योंकि इस जगत्‌के सृजन, पालन और संहार करनेवाले तथा मुक्तिदाताके रूपमें, सौन्दर्य, प्रेम, करुणा और कृपाके रूपमें भगवान्‌का ध्यान करते हैं तो अवश्य ही भगवान् सगुण भी है और साकार भी । सौन्दर्य, कर्तृत्वशक्ति, प्रेम, दया, अनुग्रह—ये सब हैं उसके गुण । इनसे यह स्पष्ट बोध होता है कि कोई शुद्ध सत्त्वशक्ति है—जिसकी यह बाह्य अभिव्यक्ति है । सुन्दरका अर्थ ही है आकारवाला । जहाँ आकार नहीं, वहाँ सौन्दर्य कैसा ! परन्तु वह रूप, वह आकार अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है । यह तो हुआ सृष्टिकी दृष्टिसे विचार । सृष्टिकी दृष्टि हटा लें तो भगवान् नाम, गुण, रूपसे अतीत अखण्ड, अनन्त सच्चिदानन्द हैं—

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।'

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्ग-
मनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।

ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ८ । २५)

'माया, उसके गुण और गुणोंके कारण होनेवाले कर्म एवं कर्मोंके संस्कारसे बना हुआ लिङ्गशरीर आपमें है ही नहीं। न तो आपका नाम है और न तो रूप। आपमें न कार्य है और न तो कारण। आप सनातन आत्मा हैं। ज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही आपने यह शरीर धारण कर रक्खा है। आप पुराणपुरुषको हम प्रणाम करते हैं।'

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । २३)

'प्रभो! आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप सबके आत्मा जो हैं। आप पुराणपुरुष होनेके कारण समस्त जन्मादि विकारोंसे रहित हैं। आप स्वयंप्रकाश हैं; इसलिये देश, काल और वस्तु—जो पर-प्रकाश हैं—किसी प्रकार आपको सीमित नहीं कर सकते। आप उनके भी आदि-प्रकाशक हैं। आप अविनाशी होनेके कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अखण्डित है। आपमें तो न किसी प्रकारका मल है और न अभाव। आप एक हैं, पूर्ण हैं। समस्त उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण आप अमृतस्वरूप हैं।'

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(१० । १४ । ५५)

'श्रीकृष्ण ही सबके आत्माओंके आत्मा हैं—परम आत्मा हैं। संसारके कल्याणके लिये ही योगमायाका आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारीके समान जान पड़ते हैं।'

श्रीमद्भागवतने दर्शन और धर्मका समन्वय भगवद्दर्शनमें किया है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी समानता, समानता ही क्यों एकरूपता सिद्ध हुई है और अन्ततोगत्वा विष्णुको सर्वोपरि माना गया है 'न हि निन्दा' न्याय के सिद्धान्तपर। पुराणोंमें कुछ शैव सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं और कुछ वैष्णव सिद्धान्तका। इसका अभिप्राय इतना ही है कि साधक अपने इष्टदेवमें अपनी साधना एवं निष्ठा दृढ़ करे—परस्पर वैर-विरोधका भाव जगाना उनका कभी भी अभिप्राय नहीं था।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके ही गुण हैं; उनसे युक्त हुआ एक ही परम पुरुष परमेश्वर संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन रूप धारण करता है; तथापि मनुष्योंका आत्यन्तिक कल्याण तो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिसे ही होता है।'

तीसरे स्कन्धमें यह बात स्पष्ट आती है कि जो धीर पुरुष मायाके परदेको हटाना चाहते हैं, वे भगवान् शिवके निर्मल चरित्रका गान करते हैं। उनके समान और उनसे अधिक कोई भी नहीं है और वे सत्पुरुषोंकी एकमात्र गति हैं। जो मनुष्य कुत्तोंके भक्ष्यरूप अपने शरीरको ही आत्मा मानकर उसका नाना प्रकारसे वस्त्र, आभूषण, माला एवं चन्दनादिसे लालन-पालन करते हैं वे अभागे पुरुष ही उन सर्वज्ञ आत्माराम भगवान् शङ्करके चरित्रका उपहास करते हैं। ब्रह्मादि लोकपालकगण भी जिनकी बाँधी हुई धर्ममर्यादाका पालन करते हैं, यह सम्पूर्ण विश्व जिनका कार्यरूप है तथा माया भी जिनकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाली है वे भगवान् भूतनाथ प्रेतोंका-सा आचरण करते हैं! अहो! उन जगद्व्यापक प्रभुका यह सब चरित्र लीलामय है।

महर्षि अत्रि सृष्टि रचनेके लिये कठोर तपस्या कर रहे थे और चिन्तन कर रहे थे कि 'जो सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं, उनकी हम शरण हैं'—'शरणं ते प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः।' उनके समक्ष त्रिदेव प्रकट हुए। इसपर महर्षि प्रार्थना करने लगे—आप तीनोंको मैं नमस्कार करता हूँ। कहिये, मैंने आपमेंसे किन एकका आवाहन किया था? मैंने सन्तान-प्राप्तिके लिये केवल एक ही देवेश्वर भगवान्का चिन्तन किया था, सो सम्पूर्ण देहधारियोंके मनके भी अगोचर आप तीनों देव यहाँ कैसे पधारे? मुझे इस विषयमें बड़ा ही विस्मय हो रहा है।

इसपर देवताओंने उत्तर दिया—'हे ब्रह्मन्! तुम सत्यसङ्कल्प हो। तुमने जैसा सङ्कल्प किया था, वैसा ही हुआ है। उसके प्रतिकूल कुछ भी नहीं हुआ। तुम जिस 'जगदीश्वर'का ध्यान करते थे, वह हम तीनों ही हैं।' अतएव यह निर्विवाद है कि 'जगदीश्वर' का अर्थ है ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इसी हेतु अत्रिके तीन पुत्र हुए—

तीनों देवताओंके आशीर्वादसे। नाम पड़ा—सोम, दत्त और दुर्वासा। ब्रह्माजीके अंशसे सोम, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय और शिवके अंशसे दुर्वासा।

चौथे स्कन्धमें भी जहाँ दक्ष-यज्ञके विध्वंसका वर्णन है सतीने दक्षसे कहा है—जिनका 'शिव' यह दो अक्षरका नाम प्रसङ्गवश एक बार लिये जानेपर भी मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको तत्काल भस्म कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, अहो! उन पवित्रकीर्ति भगवान् शङ्करसे तू द्वेष करता है! इसलिये तू अवश्य अमङ्गलस्वरूप है।

सतीके योगाग्निमें आत्मविसर्जन कर चुकनेके बाद ब्रह्माजी शिवकी प्रार्थना कर रहे हैं—हे देव! आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। मैं आपको जानता हूँ। आप संसारकी योनिशक्ति (प्रकृति) और उसका बीज शिव (पुरुष) इन दोनोंसे परे भेदहीन सनातन ब्रह्म हैं। हे भगवन्! जिस प्रकार मकड़ी आप ही जालेको रचकर उसमें क्रीड़ा करती और अन्तमें अपने आपमें ही लीन कर लेती है, उसी प्रकार आप भी अपने ही स्वरूप—पुरुष और प्रकृतिसे संसारकी रचना, पालन और संहार करते रहते हैं।

उसी प्रसङ्गमें विष्णुभगवान्ने कहा है—हे दक्ष! यज्ञका परम कारण, सबका आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वयंप्रकाश और भेदभावरहित मैं ही ब्रह्मा और मैं ही महादेव हूँ। मैंने ही अपनी त्रिगुणमयी मायाका आश्रय कर जगत्की रचना, पालन और संहार करनेके कारण कर्मके अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन नाम धारण किये हैं।

समुद्र-मन्थनके बाद प्रजापतियोंने भगवान् शङ्करकी स्तुति की है—प्रभो! अपनी गुणमयी शक्तिसे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेके लिये आप अनन्त, एकरस होनेपर भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि नाम धारण कर लेते हैं। आप स्वयंप्रकाश हैं। आप परम रहस्यमय परम ब्रह्मतत्त्व हैं। जितने भी देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सत् अथवा असत् चराचर प्राणी हैं उनको जीवनदान देनेवाले आप ही हैं। आपके अतिरिक्त सृष्टि भी और कुछ नहीं है, क्योंकि आप आत्मा हैं। धर्म भी आपका ही स्वरूप है। आप अखिलदेवस्वरूप हैं। यह पृथ्वी आपका चरण-कमल है, अग्नि आपका मुख है, दिशाएँ आपके कान हैं और वरुण रसनेन्द्रिय है, आकाश नाभि है, वायु श्वास है, सूर्य नेत्र हैं, जल वीर्य है। चन्द्रमा आपका मन है, स्वर्ग आपका सिर है, समुद्र आपकी कोख है, पर्वत हड्डियाँ हैं, ओषधियाँ आपके रोम हैं। सभी प्रकारके धर्म आपके हृदय हैं। आप जब समस्त प्रपञ्चसे उपरत होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, तब उसी स्थितिका नाम होता है 'शिव'।

दूसरे स्कन्धमें भगवान् विष्णुके विराट्स्वरूपके शरीरके रूपमें इस विराट् विश्वका वर्णन है। विष्णुसहस्रनाममें भी इस विश्वका विष्णुके शरीरके रूपमें वर्णन है। फिर यह संसार शिवका और विष्णुका—दोनोंका ही शरीर कैसे हुआ? इसका उत्तर यह है कि शिव और विष्णु एक ही हैं। भगीरथने गङ्गाकी प्रार्थना करते हुए कहा है—जैसे साड़ी सूतोंमें ओतप्रोत है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान् रुद्रमें ओतप्रोत है। अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं—भगवन्! दूसरे लोग शिवजीके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे, जिसके आचार्यभेदसे अनेक अवान्तर भेद भी हैं, शिवस्वरूप आपकी ही पूजा करते हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि भागवतमें माया-का तीन रूपोंमें उल्लेख है। उसमें पहला तो यह है कि माया अचिन्त्य, अपरिमेय, रहस्यमय है और भगवान्की दिव्य, अनन्त, अमोघ, महामहिमामयी शक्ति है; दूसरा यह है कि यह भगवान्को समावृत कर हमारे सामने संसारको ला खड़ा करती है और हमें भव-बन्धनमें फाँस लेती है; तीसरा यह है कि भ्रम और मोह उत्पन्न करनेवाली एक अमोघ शक्ति है। इन तीनों प्रकारकी भावनाओंमें किसी प्रकारका वैषम्य या विरोध नहीं है। सृष्टिको विचारमें रखकर देखनेसे ब्रह्म ही ईश्वर है। इसे और तरह समझना चाहें तो यों कह सकते हैं कि ब्रह्म और माया=ईश्वर। ब्रह्मके अतिरिक्त ईश्वरकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। ईश्वरकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और न मायाकी ही। अनन्तको सान्तकी सीमामें समेट लानेवाली शक्तिका नाम है 'माया'। इस बन्धन या सीमाके भीतर साकार है, सगुण है और उसीका नाम है ईश्वर! इसे और साफ समझना चाहें तो कह सकते हैं कि ब्रह्मका मायामें जो प्रतिबिम्ब आता है उसीका नाम है ईश्वर—'मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः'। भागवतने जगन्मोहिनी मायाको भगवान्की मुसकान बतलाया है—'हासो जनोन्मादकरी च माया'। जब जगत्का व्यक्त स्वरूप हमारे सामने रहता है तो हम कहते हैं कि माया ईश्वरकी शक्ति है। जब हमारी दृष्टि समग्रपरसे स्खलित होकर खण्डपर चली जाती है, जब हम आदिस्रोतसे हटकर जगत्के विविध नाम और

रूपोंपर उतर आते हैं तो हम मायाको अपनी जीवदृष्टिसे 'अविद्या' कहते हैं । ईश्वरमें अविद्या हो नहीं सकती। ईश्वरीय दृष्टिसे अनन्तको सान्त करनेवाली शक्ति ही 'माया' है। यह विश्वका विकास आनन्दका उल्लास है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' । यह सृष्टि क्या है, भगवान्‌के आनन्दका व्यक्तरूप है । यह जान जाना ही अविद्यासे छूटना है । भागवतमें स्पष्ट आया है कि जो भगवान्‌की सर्वभवन-सामर्थ्यरूप मायाशक्तिको जान जाता है, वह मायासे मोहित नहीं होता ।

जगत्‌की स्थिति सापेक्ष है, स्वयं पूर्ण नहीं है । अद्वैत-वादियोंकी 'जगन्मिथ्या'का यही अर्थ है । विशिष्टाद्वैतियोंके 'सत्क्रियावाद' या 'सत्ख्यातिवाद'का भी यही भाव है, क्योंकि उनकी दृष्टिमें भी इस स्थूल जगत्‌की सत्ता सापेक्ष एवं अनित्य है ।

ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं इतनेसे स्पष्ट हो गया होगा कि सभी साधनोंमें परस्पर समन्वय है और लक्ष्यमें भी कहीं परस्पर विरोध या वैषम्य नहीं है । और इसलिये साधन और लक्ष्यको लेकर मध्ययुगमें जो झगड़े और बखेड़े खड़े किये गये, वे सब व्यर्थ और झूठे हैं । गीताने डंकेकी चोट कहा है कि भक्ति ही कर्ममें प्राणकी प्रेरणा भरती है, उसीसे ध्यान और ज्ञानकी ज्योति जगमगा उठती है और वास्तविक अर्थमें स्वयं भक्ति ही सर्वोत्तम है । साधनोंको लेकर परस्पर-का विवाद व्यर्थ है, क्योंकि सभी साधन एक ही लक्ष्यकी ओर ले जाते हैं—भले ही प्रत्येक साधनाके आचार्य अपने ही साधन-पथको सर्वश्रेष्ठ एवं अन्तरङ्ग और दूसरे साधनों-को गौण तथा बहिरङ्ग कहते रहें । गीताने स्पष्ट घोषणा की है कि उन्हीं 'एक' भगवान्‌को कुछ लोग ध्यानके द्वारा, कुछ लोग ज्ञानके द्वारा, कुछ लोग योगके द्वारा और कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं । इतना ही क्यों, कितने लोग दूसरोंसे साधनकी प्रणाली सुनकर ही उपासना करने लगते हैं और ऐसे लोग भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं । गीता तो यहाँतक कहती है कि योग-के द्वारा जो प्राप्त होता है, सांख्यके द्वारा भी वही प्राप्त होता है । इस प्रकार गीतामें स्थान-स्थानपर सभी प्रकारके साधनोंका पूरा-पूरा समन्वय मिलता है । गीताने कर्म, भक्ति और ज्ञानमें किसी एकको हेय नहीं बतलाया है—वह इन तीनोंको स्वीकार करती है और गीताकी दृष्टिमें तीनोंका महत्त्व समान है ।

अस्तु, मोक्षमार्गका पथिक भगवत्प्रीत्यर्थ भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करता है, या भगवान्‌के ध्यानमें डूबा हुआ है, या भगवान्‌के प्रेममें दीवाना बना हुआ है, या उसे भक्तिके अनन्तर प्राप्त होनेवाला ज्ञान प्राप्त हो गया है—वह अपनी-अपनी साधनाके अनुसार मोक्ष, आनन्द, शाश्वती शान्ति और तुष्टि-पुष्टिको प्राप्त होगा । मार्ग चाहे जो हो, साधक यदि ईमानदारीके साथ उसपर चल रहा है तो वह अपने लक्ष्यको अवश्य प्राप्त कर लेगा । श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—'चित्त और इन्द्रियोंका संयम करके इस जगत्‌को अपने आत्मामें और अपने व्यापक आत्माको मुझ परमात्मामें देखो । इस प्रकार ज्ञान और विज्ञानसे युक्त होनेपर तुम समस्त देहधारियोंके आत्मस्वरूप हो जाओगे तथा आत्मानुभवसे ही सन्तुष्ट हो जानेके कारण फिर विघ्नोंसे बाधित न होगे ।'

फिर क्या कारण है कि धर्मके नामपर इतना हठ, इतनी जड़ता, इतनी कट्टरता छायी हुई है । क्या कारण है कि हम अपनी साधन-प्रणालीको तो सर्वोत्तम बतायें और दूसरोंकी साधनाकी खिल्लियाँ उड़ायें—क्यों न हम अपनी साधनामें एकनिष्ठ होकर अन्य साधकोंकी साधनामें सहायता पहुँचायें, योगदान दें, उसे आगे बढ़ाते चलें । इस सम्बन्धमें गीता और भागवत-ने एक ही सत्यका उद्‌घाटन किया है । भागवतका कथन है कि प्रेममें सौदा नहीं हुआ करता, प्रेममें कोई भी त्याग कठिन नहीं होता और भगवान्‌को पानेके लिये प्रेमसे बढ़-कर कोई साधन है नहीं । भगवान् वासुदेवकी भक्तिसे ही ज्ञान-वैराग्य उपजते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥
(श्रीमद्भा० १।२।७)

इस प्रकार भगवान्‌के भक्तियोगसे प्रसन्नचित्त हुए आसक्तिरहित साधकको भगवत्तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो जाता है और अन्तःकरणमें आत्मस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही इस जीवकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है और समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश हो जाता है । इसीलिये बुद्धिमान् लोग सर्वदा अत्यन्त आनन्दपूर्वक भगवान् वासुदेवमें चित्त-को निर्मल एवं प्रसन्न करनेवाली भक्ति किया करते हैं ।

धर्म ही प्रेम और भक्ति उत्पन्न न करे तो फिर करेगा कौन ? भली प्रकार अनुष्ठान किया हुआ धर्म यदि भगवान्‌में

प्रेम उत्पन्न न करे तो वह केवल श्रममात्र ही है। और भक्तिके बिना ज्ञानमें आनन्द है ही कहाँ ? परम कैवल्य मोक्ष-का कारणरूप उपाधिरहित ज्ञान भी भगवद्भक्तिके बिना सुशोभित नहीं होता; फिर भला, जो कि सदा ही अमङ्गलरूप है और सत्त्वशुद्धिका कारण नहीं है, वह ईश्वरार्पण बुद्धिसे रहित कर्म कैसे शोभित हो सकता है ? स्वयं नारदने इसी भक्तिके द्वारा परम ज्ञान और परम प्रेम पाया था। वे कहते हैं—'जब मैं भाव-भक्तिसे जीते हुए चित्तद्वारा भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करने लगा और अत्यन्त उत्कण्ठावश मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे तो धीरे-धीरे मेरे हृदयमें श्रीहरिका प्रादुर्भाव हो आया; प्रेमसे मेरा शरीर रोमाञ्चित हो गया, हृदयमें अत्यन्त शान्ति छा गयी और मैं आनन्दकी बाढ़में ऐसा डूब गया कि मुझे ध्याता और ध्यान दोनोंका कुछ भी भान न रहा।' बड़े-बड़े ज्ञानी भी इसीलिये भक्तिकी ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं कि जो आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिजन हैं, वे भी श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। क्योंकि सांख्य, योग तथा स्वधर्मपरायणता आदि समस्त साधनोंसे अन्त-कालमें भगवान्का स्मरण रहे, यही मनुष्यजीवनका परम लाभ है।

भक्ति इस जगत्की उपेक्षा नहीं करती प्रत्युत सबमें समान रूपसे श्रीवासुदेवका दर्शन करते हुए सबकी सेवामें व्यस्त रहती है। इस सम्बन्धमें स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है कि 'मैं सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा हूँ और सर्वदा समस्त जीवोंमें विराजमान रहता हूँ। ऐसे मुझ परमात्माकी अवज्ञा करके जो लोग मुझे केवल प्रतिमामें ही स्थित मानकर पूजन करते हैं, उनका वह पूजन स्वाँगमात्र है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सबके अन्तरात्मारूप मुझ ईश्वरकी मूर्खतावश अवहेलना कर केवल प्रतिमा-पूजनमें ही लगा रहता है, वह मानो भस्ममें ही हवन करता है।'

भगवान् प्रसन्न होकर भक्तोंके अनेकों कार्य कर सकते हैं तथा वे अपने सेवकोंको मोक्ष भी दे सकते हैं परन्तु भक्तियोग नहीं देते। इसका भाव यह हुआ कि मोक्षके आनन्दकी अपेक्षा भी भक्तिका आनन्द बढ़कर है। और इसीलिये तो सच्चा भक्त स्वर्गको भी ठुकराकर भक्तिके पीछे दीवाना बना फिरता है। वह भगवान्को छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि अथवा अपुनर्भव मोक्ष आदि किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं करता ! इस भक्तिके मुख्य नौ भेद हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ! भक्तिकी साधनासे एक साथ ही ज्ञान, वैराग्य तथा परमात्मसाक्षात्कार हो जाता है—ठीक जैसे भोजन करते ही तुष्टि, पुष्टि और भूखकी निवृत्ति हो जाती है। भक्तिमें न तो अति विरक्ति है और न अति आसक्ति। आसक्तिवालेके लिये कर्मका पथ है और विरक्तिवालेके लिये ज्ञानका। जिसे भगवान्के चरणोंमें प्रीति है, उसे न आसक्तिसे मतलब है न विरक्तिसे। वह तो एकनिष्ठभावसे भगवान्के चरणोंमें लीन है।

यहाँतक तो हुआ साधनके समन्वयके सम्बन्धमें। लक्ष्यकी एकता भी ध्यानमें रखनेकी है। सभी साधनोंका लक्ष्य है—शाश्वत दिव्य आनन्दकी उपलब्धि। फिर, इस बातको लेकर व्यर्थ ही झमेला क्यों खड़ा किया जाता है कि निर्गुण ब्रह्मज्ञानसे अधिक आनन्दकी उपलब्धि होती है कि सगुण ब्रह्मकी भक्तिसे, जब ये दोनों एक ही आनन्दकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। क्या ध्यानके प्रगाढ़ हो जानेपर समाधिकी अवस्थामें उसी आनन्दकी उपलब्धि नहीं होती ? फिर क्यों न भक्त अपनी भक्तिके आनन्दमें ही छका रहे, भक्तिको ही भक्तिका साध्य माने। साधन भी भक्ति, साध्य भी भक्ति। क्यों वह मोक्षके आनन्दकी ओर लपके भी ? और क्यों न हम रन्तिदेवकी तरह भगवान्से प्रार्थना करें कि—'हे प्रभो ! हमें मोक्ष नहीं चाहिये—अनेकानेक जीवनोंमें हम जहाँ भी जन्म लें दीन-दुःखियोंमें जन्म लें, उनका दुःख बटायें। भगवान्के बिना स्वर्ग भी किस काम-का, भगवान्के बिना मोक्षमें सुख ही कहाँ ? भगवान्के अत्यन्त अद्भुत मङ्गलमय चरित्रों और लीलाओंका गान करते हुए परमानन्दसमुद्रमें मग्न होकर भक्तजन किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते।

श्रीमद्भागवतमें धर्म और दर्शनका यह है दिव्य समन्वय ! और यही है वेद और वेदान्तका सार-तत्त्व। विश्व-साहित्यमें भक्तिका अद्वितीय ग्रन्थ है भागवत; यह प्रेमका सर्वोत्तम महाकाव्य है, दिव्यताकी वाटिकाका प्रथम पुष्प है, परम सुन्दर, अत्यन्त सुरभिपूर्ण और आध्यात्मिक मणियोंकी खानकी सर्वश्रेष्ठ परमोज्ज्वल मणि है। जितना ही इसका अनुशीलन कीजिये इसके प्रति आपकी प्रीति उतनी ही बढ़ती जायगी; ज्यों-ज्यों प्रीति बढ़ती जायगी इसका रसपान करनेके लिये हृदयमें अधिकाधिक उत्कण्ठा बढ़ती जायगी और यह उत्कण्ठा बढ़ते-बढ़ते यहाँतक बढ़ेगी कि

भगवान्‌का प्रसाद और अनुग्रह प्राप्त होगा। ऐसी है इस दिव्य ग्रन्थकी महिमा। यह चिर नूतन, चिर सुन्दर, चिर मधुर है—निगमकल्पतरुका सर्वोत्तम फल। शुकने इसका आस्वादन किया—यह अमृतरससे भरा है, आनन्दरससे ओतप्रोत है—हम इसका अधिकाधिक पान करें।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।४९)

'जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परमपवित्र यशका गायन होता है वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है।'

हरिः ॐ तत्सत्

श्रीमद्भागवत और श्रीचैतन्य

(लेखक—श्रीयुत बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

श्रीचैतन्यका सबसे प्रिय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत था। उनके जीवनमें हमें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवद्भावकी सर्वोच्च स्थितिका साक्षात् दर्शन होता है। श्रीचैतन्यके परवर्ती महात्मा विद्वानोंके द्वारा प्रकटित वैष्णव सिद्धान्तके अनुसार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच भावोंमेंसे किसी भी एक भावका अनुसरण करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। शान्तरसके दो प्रधान लक्षण हैं—(१) कृष्णनिष्ठा और (२) तृष्णात्याग। सनकादि परमर्षिगण, जो शान्तभावसे भगवान्‌के ध्यानमें तत्पर रहते हैं, शान्तरसकी उपासनाके उदाहरण हैं। दास्यभावमें उपर्युक्त लक्षणोंके साथ-साथ भगवान्‌के असीम ऐश्वर्यका बोध भी रहता है। भक्तराज मारुति दास्यभावकी उपासनाके सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दास्यके बाद सख्य आता है। इस भावके उपासककी भगवान्‌में सखा-बुद्धि होती है, व्रजके ग्वालबाल सख्यभक्तिके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इसमें दास्यके सब लक्षण तो विद्यमान रहते ही हैं, साथ-साथ भगवान्‌के प्रति आत्मीयता—निःसंकोचताका भाव भी रहता है। भक्त यह नहीं समझता कि भगवान् मुझसे बड़े हैं—पूज्य हैं; क्योंकि इस प्रकारकी गौरवबुद्धिमें भक्त और भगवान्‌के बीच अलगाव—अन्तर रहता है। इससे अगली सीढ़ी है—वात्सल्यकी। इसमें भक्तकी भगवान्‌के प्रति अपत्यबुद्धि—सन्तानका भाव रहता है। नन्दरानी यशोदाका स्थान वात्सल्यभावके उपासकोंमें सबसे ऊँचा है। इसमें पूर्ववर्ती तीनों भावोंके लक्षण तो रहते ही हैं; साथ ही भक्तका यह भाव भी रहता है कि भगवान् हमारे पोष्य हैं, उन्हें खिलाने-पिलाने, पहनाने-ओढ़ाने तथा हर समय उनकी सार-सँभाल रखनेकी भी उसको चिन्ता रहती है। भक्तिका अन्तिम और सर्वोच्च भाव है—माधुर्य। इसमें भक्तकी भगवान्‌में प्रियतमबुद्धि होती है, वह उन्हें कान्तभावसे भजता है। व्रजकी गोपरमणियाँ इस भावकी सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मानी जाती हैं। उन गोपरमणियोंमें भी श्रीराधारानीका स्थान सबसे ऊँचा है।

माधुर्यभाव सबसे ऊँचा इसलिये माना गया है कि उसमें पूर्ववर्ती चारों भावोंके लक्षणोंके साथ-साथ भगवान्‌की सेवाके लिये अपने शरीरके उत्सर्गका भाव भी रहता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवान्‌की इसी भावसे उपासना करते थे। उनकी मानव-लीलाके ४८ वर्षोंमेंसे अन्तिम बारह वर्ष उन्होंने पुरीमें बिताये। इन बारह वर्षोंमें वे रात-दिन अपने प्रियतम श्रीकृष्णके

विरहमें घुलते रहे। वे असम्बद्ध प्रलाप करने लगते और उन्मत्तकी-सी चेष्टाएँ किया करते थे। जब उद्धव भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर मथुरासे वृन्दावन आये थे, उस समय श्रीराधा जिस प्रकार विरहोन्मत्त होकर अटपटी वाणी बोलने लगी थीं, उसी प्रकार वे भी वातग्रस्तकी भाँति बेसिर-पैरकी बातें करने लगते थे। राय रामानन्द और स्वरूपदामोदर उन दिनों बराबर उनके साथ रहा करते थे। उन लोगोंसे वे विद्यापति, जयदेव और चण्डीदासके पद सुना करते थे।

भक्तिके किसी भी भावका उत्कर्ष दो बातोंपर निर्भर करता है—(१) चिन्तनकी अखण्ड धारा और (२) भावकी प्रगाढ़ता। माधुर्यभावकी उपासनामें ये दोनों बातें प्रचुर मात्रामें रहती हैं। भगवान् शङ्कराचार्यने अपने शारीरकभाष्यमें 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए उस पतिव्रताका उदाहरण दिया है, जिसका अपने पतिसे वियोग हो गया है और जो दिन-रात उसके प्रगाढ़ चिन्तनमें डूबी रहती है। श्रीशङ्कराचार्यने निदिध्यासन या ध्यानका यही स्वरूप बतलाया है। भागवतमें दास्यभावकी उपासनासे प्रारम्भ करके—जिसका लक्षण है तृष्णाका त्याग एवं भगवान्में अटल निष्ठा—क्रमशः उसे सर्वोच्च भाव–माधुर्यभाव-तक ले जाकर गोपीप्रेममें उसका पर्यवसान किया गया है। माधुर्यभावकी उपासनाका इतिहासमें श्रीचैतन्यके जीवनसे बढ़कर दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। शास्त्रोंमें गोपियोंके विरहकी दस अवस्थाओंका वर्णन आता है। उनके नाम हैं—(१) चिन्ता, (२) जागरण, (३) उद्वेग, (४) तनुता (कृशता), (५) वैवर्ण्य (शरीरका रंग उड़ जाना), (६) प्रलाप, (७) व्याधि, (८) उन्माद, (९) मूर्च्छा और (१०) प्रलय (मृत्यु)। श्रीचैतन्य चौबीसों घंटे इन दस अवस्थाओंमेंसे किसी-न-किसी अवस्थामें रहा करते थे।

एक दिनकी बात है, प्रभुके उद्वेगको शान्त करनेके लिये राय रामानन्दने कुछ पद्य उन्हें गाकर सुनाये और स्वरूप गोस्वामीने श्रीकृष्णकी लीलाओंका गायन किया। आधी रातके समय महाप्रभुको भीतरकी कोठरीमें लिटा दिया गया। रामानन्द अपने डेरेपर चले आये। स्वरूप बाहरी द्वारपर लेट रहे। रातभर वे महाप्रभुका जोर-जोरसे हरिनाम-कीर्तन करना सुनते रहे। जब कीर्तनकी आवाज बंद हो गयी, तो स्वरूपने दरवाजा खोला और वे भीतर गये। उन्होंने देखा कि बाकी तीनों दरवाजे ज्यों-के-त्यों बंद हैं, परन्तु उन्हें महाप्रभु नहीं दिखायी दिये। उनके सभी साथी उन्हें जहाँ-तहाँ ढूँढ़ने लगे। अन्तमें महाप्रभु उन्हें श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके सिंहद्वारके उत्तरकी ओर एक जगह पड़े हुए मिले। उन्हें देखकर पहले तो वे फूले न समाये। परन्तु जब उन्होंने महाप्रभुकी अवस्था देखी, तो वे बड़े चिन्तित हो गये। उन्होंने देखा कि महाप्रभुका शरीर लगभग नौ फुट लंबा हो गया है और वे बेहोश पड़े हैं। उनके नाकके पास हाथ ले जाकर देखा गया तो श्वासकी गति रुकी हुई जान पड़ी। यही नहीं, उनके दोनों हाथ-पैर करीब तीन-तीन हाथ लंबे हो गये थे। उनके मुँहसे झाग तथा लार निकल रही थी। शरीरके जोड़ ढीले हो गये थे। आँखकी पुतलियाँ उलट गयी थीं। उनकी यह अवस्था देखकर भक्तोंके होश उड़ गये। वे सब-के-सब मूर्च्छित-से हो गये। तब स्वरूप दूसरे भक्तों-

के साथ मिलकर जोर-जोरसे महाप्रभुके कानोंमें हरिनाम-की ध्वनि करने लगे । बड़ी देरके बाद हरिनामने महाप्रभुके हृदयमें प्रवेश किया । वे स्वयं जोरसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' चिल्ला उठे । उनकी हड्डियाँ, जो अलग-अलग हो गयी थीं, फिरसे जुड़ गयीं । उनके शरीर-का आकार-प्रकार पुनः पूर्ववत् हो गया । श्रीचैतन्य अपनेको वहाँ पाकर आश्चर्यमें डूब गये । उनके भक्तोंने उन्हें पुनः उनके डेरेपर पहुँचाया । उन्होंने महाप्रभुके सामने जिस दशामें वे पड़े हुए पाये गये थे, उसका वर्णन किया । महाप्रभुने कहा, 'मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है । मुझे तो केवल इतना ही याद है कि मैंने श्रीकृष्णको देखा । वे विजलीकी भाँति एक बार मुझे अपनी झलक दिखाकर फिर नेत्रोंसे ओझल हो गये, छिप गये ।' (देखिये केनोपनिषद्—'यदेतद् विद्युतो व्यद्योतनम् ।')

एक दिन महाप्रभु समुद्रस्नानके लिये जा रहे थे । उनकी दृष्टि समुद्रतटके निकटवर्ती चटक पहाड़ीकी ओर गयी । उन्होंने समझा यह तो व्रजका गोवर्द्धन पर्वत है । बस, फिर क्या था—वे उसकी ओर दौड़ पड़े । उनके पीछे-पीछे उनके साथी भी दौड़े, उन्हें भय था कि महाप्रभुको कहीं चोट न आ जाय । एका-एक महाप्रभु खड़े हो गये । वहाँसे वे एक पैर भी आगे न बढ़ सके । उनका प्रत्येक रोमकूप फूल उठा, मानो उनके सारे शरीरमें फुन्सियाँ निकल आयी हों । सारे शरीरमेंसे पसीना रक्तकी धाराओंकी भाँति बह रहा था । उनके गलेमें केवल घरघराहटकी आवाज आ रही थी, कोई भी शब्द स्पष्ट नहीं सुनायी पड़ता था । आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी । शरीरका रंग शङ्खकी भाँति सफेद हो चला था । एकाएक सारा शरीर बड़े जोरसे काँपने लगा और वे जमीनपर गिर पड़े । उनके साथियोंने उनके शरीरपर जल छिड़का और वे उन्हें हवा करने लगे । पहले तो वे सब-के-सब रोने-चिल्लाने लगे । फिर वे उनके कानोंके पास जाकर कृष्ण-नामकी ध्वनि करने लगे । जब बड़ी देरतक कृष्ण-नामकी ध्वनि होती रही, तब महाप्रभु उठ बैठे और 'हरि बोल' 'हरि बोल' कह-कर चिल्लाने लगे । उनके साथी भी मारे खुशीके चिल्लाने लगे । महाप्रभु सब ओर इस प्रकार देखने लगे मानो वे किसीको खोज रहे हों । तब उन्होंने कहा, 'मुझे गोवर्द्धनसे यहाँ कौन ले आया ? अभी-अभी मैं वहाँ गया था और मैंने श्रीकृष्णको गौएँ चराते देखा । वे देखते-देखते गिरिराजके शिखरपर चढ़ गये और बाँसुरी बजाने लगे । उस मनोहर वंशीध्वनिको सुनकर राधारानी भी वहाँ चली आयीं । अहा ! उनकी कैसी मोहक छवि थी ! कैसा दिव्य रूप था ! मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता । श्रीकृष्ण प्रियाजीको लेकर एक कंदरामें चले गये । उसी समय तुमलोगोंने बड़ा हल्ला-गुल्ला किया और मुझे तुमलोग वहाँसे यहाँ ले आये । तुमलोग मुझे कष्ट देनेको यहाँ क्यों ले आये ? हाय ! श्रीकृष्णकी लीलाओंको देखनेका एक महान् अवसर मैंने हाथसे खो दिया !' यों कहकर महाप्रभु रोने लगे ।

महाप्रभुके अन्तिम दिवस इस प्रकारके आनन्दातिरेक एवं घोर व्यथामें बीते । उनके जीवनकी इस अवस्थाको 'दिव्योन्माद' कहा गया है । भगवद्भावकी जिन अवस्थाओं-को अबतक लोग श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें पढ़ते भर आये थे, वे महाप्रभु श्रीचैतन्यके जीवनमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो गयीं । मानव-शरीरमें इस प्रकारकी विलक्षण विकृतियों-को सहनेकी क्षमता नहीं है; इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि जगत्को यह दिखलानेके लिये कि कृष्ण-प्रेमके आवेशमें श्रीराधाकी कैसी दशा हो जाती है, स्वयं श्रीकृष्ण श्रीचैतन्यके रूपमें प्रकट हुए थे ।

श्रीमद्भागवतमें राधाप्रसङ्ग

(लेखक—प्रो० श्रीरमेशचन्द्र चक्रवर्ती शास्त्री, काव्य-व्याकरण-पुराण-वेदान्ततीर्थ, पुराणरत्न, सुत्तविशारद, वेदान्त-भागवतशास्त्री)

श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें आधुनिक शिक्षित समाज भाँति-भाँतिकी आलोचना किया करता है। पाश्चात्य पण्डित ग्रियर्सन तथा वेबर आदिने कहा है कि श्रीकृष्णकी उपासना और भागवत-सम्प्रदायकी 'ऐकान्तिन्' शाखा मूलतः अभारतीय ईसाई-धर्मकी ही परिणति है। महाभारतके नारायणीय उपाख्यानमें जो नारदजीके श्वेतद्वीप जानेकी बात आती है, उसीको लेकर ऐसी कल्पना की गयी है। अवश्य ही यह मत सर्वथा भ्रान्त और अश्रद्धेय है; क्योंकि ईसासे बहुत पहले होनेवाले महाकवि भासने श्रीकृष्णकी बाललीलाके आधारपर बालचरितादि नाटकोंका निर्माण किया था।

श्रीकृष्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं या नहीं, इसपर भी नाना प्रकारकी आलोचनाएँ हुई हैं। श्रीकृष्णोपासनाके सम्बन्धमें भी विभिन्न मत हैं। श्रीकृष्णोपासनाको कोई सूर्योपासनाका नामान्तर बतलाते हैं तो कोई श्रीकृष्णको 'जातीय देवता' (Tribal God) कहते हैं। किसी-किसीने तो उन्हें 'उद्भिज्ज-देवता' (Vegetation Deity) तक कह डाला है। बंगालके प्रसिद्ध औपन्यासिक और साहित्यिक मनस्वी बङ्किमचन्द्रने अपने 'कृष्णचरित' में दिखलाया है कि मूलमें श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक पुरुष थे; परन्तु उनके इतिहासके साथ भाँति-भाँतिकी पौराणिक किंवदन्तियाँ, रसकथाएँ और कवियोंकी उद्भट कल्पनाएँ मिल गयी हैं। बङ्किमबाबूकी तरह आधुनिक शिक्षित समाज भी प्रायः इसी मतका समर्थन करता है; परन्तु हमारी समझसे श्रीकृष्णचरितकी आलोचनाके लिये विचारशैली वस्तुतः दूसरी ही तरहकी होनी चाहिये।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें आलोचना करते हुए बङ्किमचन्द्रने कहा है कि 'श्रीमद्भागवतमें राधाका, जिसे सारा देश और सब लोग जानते-मानते हैं, नाम भी नहीं है—यहाँतक कि उसमें राधाकी कहीं गन्ध भी नहीं है।' परन्तु यथार्थ सत्य कुछ और ही है। श्रीमद्भागवतमें राधाकी गन्ध स्पष्टरूपसे है और उनके नामका आभास भी है। लगभग चार सौ वर्ष पूर्व श्रील श्रीरूप गोस्वामीने अपने 'श्रीबृहद्भागवतामृत' नामक ग्रन्थमें इस प्रसङ्गको उठाया था और इसकी मीमांसा भी की थी। इस सम्बन्धमें हम यहाँ वैष्णवाचार्य श्रीरूप गोस्वामिपादकी विचारप्रणाली दिखानेकी चेष्टा करते हैं।

श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायी श्रीकृष्णके तत्त्व और श्रीकृष्णोपासनाका गूढ़ रहस्यस्वरूप है। इसके पहले अध्याय (दशम स्कन्धके २९वें अध्याय) का अन्तिम (४८वाँ) श्लोक यह है—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥

तासां—उन व्रजसुन्दरियोंके तत्—उस सौभगमदं—सौभाग्यगर्वको वीक्ष्य—देखकर, मानं च—और मानको देखकर केशवः—श्रीकृष्ण प्रशमाय—जिनको गर्व हुआ है, उनके गर्वको प्रशमित करनेके लिये प्रसादाय—जिनको मान हुआ है, उनके मानको प्रसादित करनेके लिये तत्र एव—उसी स्थानमें अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गये।

इसके पूर्व, योगेश्वरेश्वर भगवान् अपनी योगमायाको समाश्रय बनाकर आत्माराम होनेपर भी व्रजगोपियोंकी प्रेमभरी बातें सुनकर बड़े आह्लादसे उनपर दया करके उनके साथ क्रीडा कर चुके हैं (देखिये भागवत १०।३०।४० से ४४ तक)।

इस प्रकार स्वतन्त्रताके साथ प्राण भरकर श्रीभगवान्के साथ क्रीडा करनेका अधिकार पा

जानेसे गोपियोंके मनमें यह गर्व हो गया था कि ब्रह्माण्डकी कोई भी स्त्री हमारे समान नहीं है। प्रत्येक गोपी प्रियतमका—श्रीकृष्णका सङ्ग प्राप्त करके अपनेको सबसे बढ़कर गर्विणी और सौभाग्यवती समझती थी। भक्तिरसामृतसिन्धुमें गर्वका लक्षण बतलाया है—

सौभाग्यरूपतारुण्यगुणसर्वोत्तमाश्रयैः ।
इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्यते ॥

सौभाग्य, रूप, जवानी, गुण, सर्वोत्तम आश्रय और इष्टलाभादिके कारण दूसरोंके प्रति जो अवज्ञाका भाव होता है, उसे 'गर्व' कहते हैं। व्रजगोपियोंमें यह गर्व 'स्थायी भाव' नहीं है, 'सञ्चारी भाव' है। समुद्रके हृदयपर जैसे छोटी-बड़ी तरङ्गें उठती और भाँति-भाँतिसे खेलकर फिर उसी सागरके हृदयमें मिल जाती हैं, वैसे ही स्थायी भावपर सञ्चारी भावका क्षणिक विलास हुआ करता है। इससे स्थायी भावकी पुष्टि ही होती है—वह और भी अधिकतर आस्वाद्य और मधुरतम हो जाता है।

व्रजगोपियोंमें सौभाग्यका गर्व पैदा हो गया। भगवान् श्रीकृष्णको उनमें दो विकार दिखायी दिये— 'सौभाग्यगर्व' और 'मान'। ये दोनों भाव परस्पर व्यधिकरण-धर्मा हैं अर्थात् एक ही समय एक व्यक्तिमें इन दोनोंकी एक साथ उत्पत्ति असम्भव है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि किसी-किसी गोपीमें गर्वका सञ्चार हुआ था, और किसी-किसीमें मानका। इसीलिये रसिकचूडामणि श्रीभगवान् मानका प्रसादन और गर्वका प्रशमन करनेके लिये अन्तर्हित हो गये। मूल श्लोकमें 'अन्तरधीयत' प्रयोग कर्मकर्तृवाच्य है, अतएव यह सिद्धान्त मानना होगा कि वे अपने-आप ही अन्तर्धान हो गये।

टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदयने लिखा है—

'ततश्च सर्वासु भगवतः साधारण्येनैव रमणाद् या सर्वमुख्यतमा वृषभानुकुमारी सा सहसोद्भवदीर्ष्याकषायिताक्षी मानिनी बभूव ततो न्यूना अन्याः सौभाग्यगर्ववत्यो बभूवुरित्यद्भुते वैमत्ये सति भगवतैव यत्तत्र समाहितं तदाह।'

भगवान् समस्त गोपियोंके साथ साधारण भावसे क्रीडा कर रहे थे, इससे प्रधान गोपी वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके मनमें सहसा मान जाग उठा और ईर्ष्याके मारे उनके नेत्र लाल हो गये। दूसरी गोपियोंको केवल सौभाग्यका गर्व ही हुआ था। इस प्रकार परस्पर विरोधी भावोंके उदय होनेपर श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। अकेले नहीं—मानिनी राधाको साथ लेकर। श्लोक-के अर्थपर विचार करनेसे यहाँ ऐसा समझमें नहीं आता, यह सत्य है; परन्तु तात्पर्य और व्यञ्जना यही है। क्योंकि जिसका मान प्रसादन करना है, उसको साथ लिये बिना वह कैसे होगा? रासके दूसरे अध्याय (३०वें अध्याय) में यह विषय स्पष्टरूपसे प्रकाशित है।

(२)

श्रीकृष्णान्वेषण

रासके द्वितीय अध्यायमें व्रजगोपिकाएँ श्रीकृष्णके विरहसे कातर होकर उन्हें खोज रही हैं। विरहकी प्रथमावस्थामें उनकी दशा पागलों-जैसी हो जाती है। इसके बाद वे अर्धचेतना प्राप्त करके श्रीकृष्णको खोजने लगती हैं। दूरसे जब जिस वस्तुकी ओर उनकी नजर जाती है, तब वे उसी वस्तुके बाहर श्रीकृष्णको देख पाती हैं। परन्तु जब उस वस्तुके पास जाती हैं, तब अनुभव करती हैं कि वह वस्तु ही कृष्णमय हो गयी है।

नाथ हरे! बत नाथ हरे!
करुणां कुरु परिजननिकरे॥
गर्वितचित्तास्तव सुखचित्ता
नान्यनिमित्ताः प्राणपते!
रसिकशिरोमणिरसि हृदयङ्गम
रमण! महाशय! विमलमते!!

(किशोरप्र०)

वे अर्धोन्मादिनीकी तरह पीपल, पाकर, बरगद, कुरबक, अशोक, नागकेशर, पुन्नाग, चम्पा आदि पुष्प-वृक्षोंसे पूछने लगीं—रामानुज कहाँ हैं ? उन्होंने मालती, जाती और जूहीसे पूछा—तुमलोगोंने माधवको देखा है ? आम, पियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार आदिसे पूछा—तुमने हमारे श्यामसुन्दरको देखा है ? पृथ्वीसे पूछा—केशव कहाँ हैं ?

विरहकातरा गोपियोंने यहाँतक श्रीमतीके सम्बन्धमें सङ्केतसे भी कुछ नहीं कहा। उन्मत्तोंकी तरह वृक्षों और बेलोंको पूछती हुई सहसा उन्होंने देखा अपने सामने एक हरिनीको। हरिनीके विह्वल नेत्रोंको देखते ही उन्हें श्रीमतीकी याद हो आयी। उन्होंने कहा—

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥
(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

'अरी सखी हरिनी ! अपनी प्राणप्रियाके साथ हमारे श्यामसुन्दर अच्युत क्या इस वनमें आये थे ? उनके सुन्दर अङ्गोंके दर्शनसे क्या तुम्हारे नेत्र परमानन्दको प्राप्त हो चुके हैं ? अनुमान तो ऐसा ही होता है—कुलपति श्रीकृष्णकी कुन्दकलीकी मालाकी मनोहर गन्ध आ रही है और उसमें उनकी कान्ताके अङ्ग-सङ्गसे मिले हुए कुचकुङ्कुमकी सुवास भी जान पड़ती है।' इससे अगले श्लोकमें यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि श्रीकृष्ण सबमें प्रधान गोपीको ही साथ लेकर गये थे।

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥
(श्रीमद्भा० १०।३०।१२)

टीकाकारोंमें कुछका मत है कि हरिनीका नाम था रंगिणी और वह श्रीकृष्णके द्वारा पाली हुई थी। श्रीजीव गोस्वामिपाद वैष्णवतोषिणी टीकामें कहते हैं—गोपियोंके पूछनेपर हरिनी जब कुछ भी न बोली, तब गोपियोंने समझा कि हरिनी गर्वके कारण उत्तर नहीं दे रही है। तब उन्होंने फलोंके भारसे झुके हुए विनय-विनम्र वृक्षोंकी शरण ली। उन्होंने कहा—'तरुवरो ! तुम लोगोंको चरणोंमें प्रणाम करते देखकर रामानुजने क्या प्रणयदृष्टिसे तुम्हें आप्यायित किया है ?' वृक्षोंने कहा—'क्यों ? वे तो प्रायः ही यहाँ आते हैं !' गोपियाँ बोलीं—यह बात नहीं है, क्या वे इस समय अपनी प्रेयसीके कंधेपर हाथ रक्खे यहाँ आये थे ? उनके एक हाथमें कमल होगा और दूसरा हाथ वे अपनी प्रियतमाके कन्धेपर रक्खे होंगे। तुलसीकी गन्धके लोभी भ्रमर उनके चारों ओर मँड़रा रहे होंगे। कहीं वे प्रेयसीको काट न लें, इसी डरसे हाथमें कमल लिये वे उन्हें उड़ा रहे होंगे, तुमने क्या इस रूपमें उनको देखा है ? टीकामें श्रीमत् जीवगोस्वामिपादने लिखा है—

अथात्रेति विचार्यते कामप्याधाय श्रीभगवानन्तर्हित इति व्यक्तीभविष्यदपि पूर्वं यन्मुनीन्द्रः स्वयं न स्फुटमुक्तवान् तस्यायमभिप्रायः। सत्स्वपि नानाभगवदाविर्भावेषु मम स्वयं भगवति श्रीकृष्णाख्य एव तस्मिन्नाग्रहविशेष इति। तथा सत्स्वपि नानातत्तत्परिकरेषु श्रीव्रजवासिष्वेव स इति तथा सत्स्वपि तेषु श्रीव्रजदेवीष्वेव ततोऽप्यधिकतरः स इति रहस्यं सर्वेऽपि ज्ञातवन्त एव, किन्तु तास्वपि सतीषु <u>श्रीराधिकायामेवाधिकतमः स इति न ज्ञातवन्तः</u>' तदेतन्मदाग्रहतारतम्यञ्च तत्तदुत्कर्षतारतम्यादेव। अस्याः परमरहस्यायास्तदेतत्तु साक्षाज्ज्ञापयितुं सङ्कुचति मच्चित्तम्।

श्रीभगवान् जब रासमण्डलका त्याग करके अन्तर्धान हो गये थे, तब वे किसीको साथ ले गये थे—यह बात क्रमशः प्रकट हो जायगी, छिपी न रहेगी; परन्तु मुनिराज श्रीशुकदेवजी मानो अपनी ओरसे इस बातको प्रकट करना नहीं चाहते या उनका साहस नहीं होता।

क्यों ? श्रीशुकदेवजीकी धारणा है कि नाना अवतारी भगवानोंमें श्रेष्ठ यह श्रीकृष्णावतार है। वे स्वयं भगवान् हैं, उनके असंख्य परिकर हैं, उनमें व्रजवासी श्रेष्ठ हैं, उनमें गोपियाँ श्रेष्ठ हैं और गोपियोंमें श्रीमती राधिका सर्वश्रेष्ठ, परम प्रियतमा हैं। इस गुह्य रहस्यका मेरे द्वारा प्रकट किया जाना सङ्गत नहीं है—इसीसे श्रीशुकदेवजीका चित्त सङ्कुचित है। अतएव साक्षात्‌रूपसे वे कुछ भी नहीं कहना चाहते। परन्तु न कहना ज्ञानखलता होती है। गोपियोंमें जो श्रीमती राधिकाजीके पक्षकी या सुहृत्-पक्षकी हैं, वे भी इसे गुप्त ही रखती हैं, परन्तु प्रतिपक्षी गोपियोंके मुखसे व्यञ्जनामें यह बात आप ही प्रकट हो जाती है। टीकामें है—

ज्ञानखलताभिया विज्ञापयितुमपीच्छति तस्माद्स्याः सखीनां वचनात्तत्राप्रतीतौ च प्रतिपक्षाणामपि वचनाद् व्यञ्जनयैव वृत्त्या यथावसरं मध्ये मध्ये प्रकटयिष्यामः। यदि च जातु स्वयमप्यावेशवशात् प्रकटयिष्यामः, तदा नाम तु तस्याः साक्षान्न वक्ष्यामः।

श्रीकृष्ण रसराज हैं, रसिकशेखर हैं। अनेकों कान्ताओंके अनेकों भाव होनेपर भी श्रीकृष्ण हैं उन सभीके। व्रजगोपियोंके अनेकों रूप हैं, परन्तु तत्त्वतः वे सभी महाभावस्वरूपिणी श्रीमती राधिकाके ही विभिन्न प्रकाश और विलासमात्र हैं। वे सभी श्रीमती राधाकी कायव्यूहरूपा हैं। श्रीमती प्रेम-कल्पलता हैं और ये गोपियाँ उनकी शाखावल्लरी और मुकुल हैं।

धर्मतत्त्वकी दृष्टिसे देखनेपर श्रीराधातत्त्व श्रीशुकदेवजीके हृदयका गुह्यतम सत्य है, परम मन्त्र है—इसलिये सर्वथा गोपनीय है, सहज ही किसीके सामने प्रकाशित करने योग्य नहीं। अतएव भागवतकारका इस राधाके प्रसङ्गको गुप्त रखना सर्वथा समीचीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(३)

श्रीकृष्ण-चरण-चिह्नदर्शन

भगवान्‌की लीलाका अनुकरण करते-करते गोपियोंने नन्दनन्दनके ध्वजा, वज्र, अंकुश आदिसे युक्त चरण-चिह्न देखे—

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः॥
(श्रीमद्भा० १० । ३० । २५)

विष्णुपुराणमें कहा है—एक गोपी मिट्टीमें उभरे हुए भगवान्‌के चरणचिह्नोंको अच्छी तरह देखकर सारे अङ्गोंसे पुलकित हो गयी। उसके नेत्रकमल खिल उठे। वह अन्यान्य सखियोंको पुकारकर कहने लगी—'सखियो! देखो-देखो! ध्वज, अङ्कुश आदिसे युक्त ये भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्न हैं।

ध्वजवज्राङ्कुशाब्जाङ्करेखावन्त्यालि पश्यत।
पदान्येतानि कृष्णस्य लीलाललितगामिनः॥
(वि० पु० ५ । १३ । ३२)

श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको देखते-देखते उन्हींके साथ उन्होंने श्रीमतीजीके चरणचिह्नोंको भी देखा—

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्॥
(श्रीमद्भा० १० । ३० । २६)

चरणचिह्नोंको देखकर अन्तरङ्गा सखियाँ सब कुछ जाननेपर भी गम्भीरताके साथ चुप हो रहीं। जो तटस्था थीं, वे भी किंकर्त्तव्यविमूढ होकर कुछ न कह सकीं। जो प्रतिपक्षा थीं—विरुद्ध पक्षवाली थीं, उनको असीम दुःख हो रहा था। वे दुःखकी ज्वालासे जलती रहीं, कुछ बोल न सकीं। परन्तु जो गोपियाँ श्रीमती राधिकाके सुहृत्-पक्षकी थीं, वे बोल उठीं। टीकाकार श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय कहते हैं—

पदचिह्नैरेव तां श्रीवृषभानुनन्दिनीं परिचित्यान्तराश्वस्ता बहुविधगोपीजनसंघट्टे तत्र बहिरपरिचयमिवाभिनयन्त्यस्तस्या याः सुहृदस्तन्नामनिरुक्तिद्वारा तस्याः सौभाग्यं सहर्षमाहुः।

श्रीमतीकी सुहृत्पक्षा गोपियाँ चरणचिह्नोंको देखते ही पहचान गयीं कि ये श्रीमतीके हैं; इसलिये वे अपने मनमें

तो बड़ी प्रसन्न हुई, परन्तु ऊपरसे उन्होंने व्रजगोपियोंके समुदायमें बिल्कुल अनजान-सी होकर संकेतसे सब कुछ कह दिया। समझनेवाले समझ ही गये और जो नहीं समझते, उनके न समझनेमें कोई हानि नहीं। जिस धातुसे श्रीराधाका नाम बनता है, उसी 'राध्' धातुके प्रयोगरूपमें उनकी बातचीतमें श्रीराधाका नाम स्पष्ट ध्वनित हो गया--

अनयाऽऽ'राधितो' नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३०। २८)

भक्तोंके दुःख हरण करनेवाले श्रीहरि भक्तोंकी सारी कामनाओंको पूर्ण करते हैं। उन्होंने इस सौभाग्यवती रमणीकी आराधनासे परितुष्ट होकर इसे एकान्तमें अपनी सङ्गिनी बनाया है।

तटस्थ रहनेवाली सखियोंने कहा—

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥
(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९)

भगवान् श्रीकृष्णके चरणरज अत्यन्त पवित्र होते हैं; इसी कारण ब्रह्मा, शिवजी तथा लक्ष्मीजी उन्हें सिर-पर धारण करते हैं।

प्रतिपक्षीया सखियाँ कहने लगीं—

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३०। ३०)

श्रीकृष्ण सभी गोपियोंके स्वामी हैं, और यह गोपी अकेली ही भगवान् अच्युतकी अधरसुधाका अपहरण करके स्वयं उसका पान कर रही है—इससे हमारे हृदयमें बड़ा ही क्षोभ हो रहा है।

इसके पश्चात् कुछ आगे बढ़नेपर उत्सुका गोपियोंको श्रीमतीके चरणचिह्न नहीं दिखायी दिये। वे सोचने लगीं—'प्रियतमाके कोमल लाल-लाल चरणोंमें कहीं घासकी नोंक गड़ जायगी—इस भयसे श्रीकृष्णने प्रेयसीको अपने कंधे चढ़ा लिया होगा, इसी कारण चरणचिह्न नहीं दिखायी दे रहे हैं। वे अपनी प्रियतमाको कंधेपर चढ़ाकर ले जा रहे हैं, तभी तो बोझके कारण श्रीकृष्णके चरण-चिह्न बालूमें बहुत गहरे धँस गये हैं। यहाँ रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्णने प्रेयसीको फूलोंसे सजानेके लिये नीचे उतार दिया है, और वे फूल चुनने लगे हैं।' इतनेमें ही गोपियोंने देखा, सिरके केशोंकी माला सामने पड़ी है; उसे देखकर प्रतिपक्षीया सखियाँ कहने लगीं—'यहाँ श्रीकृष्णने प्रेयसीके केश गूँथकर उसकी चोटीको फूलोंकी मालासे सजाया है।'

श्रीशुकदेवजी महाराज व्रजगोपियोंके मुखसे इन बातोंको केवल सुन ही नहीं रहे हैं, वे मानो अपनी आँखोंसे देख भी रहे हैं। गोपियोंके हृदयगत इन सब अनुभवोंका दर्शन करते-करते गोपियोंकी कृपासे उनकी एक नयी दृष्टि खुल गयी, अतएव वे स्वयं प्रत्यक्ष रूपसे देखकर इस अतिगुह्य श्रीराधामाधवविलासका वर्णन करने लगे—

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्॥
इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः॥
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥
(श्रीमद्भा० १०। ३०। ३५—३९)

यह श्रीशुकदेवजीकी अपनी उक्ति है। श्रीशुकदेव-जी बोले—'महाराज! श्रीकृष्ण स्वात्मरत, आत्माराम और अखण्ड हैं। वे अपने आपमें ही खेलते हैं और अपने आपमें ही सन्तुष्ट हैं। वे स्त्रियोंके विलासके वशीभूत

नहीं होते। तथापि उन्होंने साधारण मनुष्योंकी स्त्रीपरवशता तथा स्त्रियोंकी कुटिलता दिखलानेके लिये ही उस रमणीके साथ विहार किया। वह गोपी अन्य सखियोंकी अपेक्षा अपनेको अधिक सौभाग्यवती समझने लगी और गर्वसे अपने-आपको भूलकर केशवसे कहने लगी—'मैं अब चल नहीं सकती, तुम मुझे कंधेपर चढ़ाकर ले चलो।' यह बात सुनकर श्रीकृष्णने कहा—अच्छा प्रिये! तुम मेरे कंधेपर चढ़ जाओ। फिर ज्यों ही वह कंधेपर चढ़ने लगी, त्यों ही वे अन्तर्धान हो गये। श्रीमतीको तब अपनी अवस्थाका भान हुआ और वे करुण स्वरसे पश्चात्ताप करने लगीं।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३०। ४०)

हे प्रभो! हे रमण! हे प्रियतम! तुम कहाँ हो? मैं तुम्हारी दासी हूँ, दीना हूँ; एक बार दासीको दर्शन दो।

इतनेमें ही दूसरी गोपियाँ भी श्रीकृष्णको खोजते-खोजते उसी मार्गसे वहीं आ पहुँचीं और उन्होंने प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगदुःखसे पीड़ित अपनी सखीको अचेत पड़ी देखा। फिर उसके मुँहसे उन्होंने सारी बातें सुनीं। इसके बाद सब सखियाँ मिलकर श्रीकृष्णको खोजने निकलीं। विरह-कातरा गोपियोंका यह गोपी-गीत रासके तृतीय अध्यायमें है।

(४)
गोपियोंके विभिन्न भाव

श्रीकृष्णके लौट आने—प्रकट हो जानेपर उनके विरहमें व्याकुल गोपियाँ उनसे किस प्रकार मिलीं—इसका वर्णन जिन श्लोकोंमें किया गया है, भागवतके भावुक टीकाकारोंने उनमें भी श्रीमती राधिकाके स्वरूपका निर्धारण किया है। श्रीमद्भागवतके वे श्लोक इस प्रकार हैं—

(१) काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
(२) काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्॥
(३) काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
(४) एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात्॥
(५) एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
प्रत्यैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा॥
(६) अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा॥
(७) तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता॥
(१०। ३२। ४—८)

श्रीमद्भागवतमें इन सात गोपियोंके विषयमें उल्लेख है। आठवीं गोपीका उल्लेख श्रीविष्णुपुराणमें है (श्रीजीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिणी)।

(८) काचिदालोक्य गोविन्दमायान्तमतिहर्षिता।
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदीरयत्॥
(वि० पु० ५। १३। ४४)

ये आठ सखियाँ हैं—चन्द्रावली, श्यामा, शैव्या, पद्मा, राधा, ललिता, विशाखा और भद्रा।

आठों सखियोंसे युक्त मण्डलीकी शोभा इन्द्रधनुषके समान हो रही है। जिस प्रकार इन्द्रधनुषका रंग एकसे धीरे-धीरे दूसरेमें सङ्क्रमित होता है, उसी प्रकार चन्द्रावलीका भाव अन्य तीन सखियोंमें संक्रमण करके तथा उनका रूप ग्रहण करके श्रीमती राधामें तथा श्रीराधाका भाव ठीक उसी प्रकार अन्य तीन सखियोंमें संक्रान्त होकर चन्द्रावलीके भावको प्राप्त होता है। श्रीजीवगोस्वामिपादने कहा है कि विरहके समय सारी सखियाँ समान भाववाली हो गयी थीं, परन्तु श्रीकृष्णके आविर्भावके साथ ही वे फिर अपने-अपने भावमें आ गयीं।

१–चन्द्रावलीका भाव तदीयतामय है—मैं कृष्णकी हूँ, मुझे ही उनके पास जाना चाहिये। वे श्रीकृष्णके स्पर्शके लिये उतावली हो रही हैं, परन्तु भ्रमणके क्लेशसे थक रही हैं। इसी कारण वे श्रीकृष्णके करकमलको अपनी अञ्जलिमें बाँध लेती हैं, परन्तु मानो उनमें श्रीकृष्णको खींचनेकी शक्ति नहीं रही है (····कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।)

२–श्यामा सखी श्यामला अथवा प्रखरा हैं। इसीसे वे कान्तकी चन्दनचर्चित भुजाको खींचकर उन्हें बाँध लेना चाहती हैं। (····दधार तद्बाहुमंसे।)

३–शैव्याका आकर्षण और भी प्रबल है। उन्होंने भगवान्‌का चबाया हुआ पान हाथोंमें ले लिया है (····अञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्)।

४–पद्मा सखीने श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने वक्षःस्थलपर धारण कर लिया।

५–पाँचवीं सखी यूथेश्वरी भावमयी श्रीमती राधा हैं। ये प्रखरा, स्वाधीना, मधुर स्नेहसे युक्त, बिव्वोक भाव तथा ललित नामक अनुभावसे भावमयी हैं। चन्द्रावली व्याकुल होकर समीप गयीं; परन्तु श्रीराधा मानमयी गर्विणी हैं, अतएव वे भौंहें टेढ़ी करके देख रही हैं और दाँतोंसे होठोंको चबा रही हैं।—'इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां बिव्वोकः स्यादनादरः।' अपने प्रियतमके प्रति भी गर्वित नेत्रोंसे अनादरपूर्वक देखना बिव्वोक भाव कहलाता है। —उज्ज्वलनीलमणि

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपादने श्रीराधाके भावको इस प्रकार प्रकाशित किया है—

भोः कुहकशिरोमणे! स्वप्रेमहालाहलं त्वया मयि प्रयुज्य सम्यक्कया सफलीकृतं देहान्निःसृतप्रायान् प्राणान् दग्धुं किं पुनरपि प्रत्यासीदसि त्वं साध्वेव परिचितोऽभूरिति व्यञ्जयन्ती पेक्षत।

ओ छलियोंके सरदार! तुम्हारे प्रेम-हलाहलने हमको मौतके मुँहमें ला पटका है। अब बस करो, हमें जीने दो।

६–ललिता प्रखरा वामा हैं। श्रीकृष्ण ही मेरे पास आयेंगे, इस भरोसेपर वे दूर ही खड़ी हैं। परन्तु राधाके समान टेढ़ी दृष्टिसे नहीं देखती हैं। बल्कि एकटक निर्निमेष दृष्टिसे श्रीकृष्णकी मुख-शोभा देख-देखकर मुग्ध हो रही हैं।

७–विशाखा सखी प्रखरा हैं, परन्तु साथ ही अत्यन्त सरला हैं। श्रीकृष्णको देखते ही लज्जाके मारे उनकी आँखें मुँद गयी हैं, भावावेशसे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुलकित हो रहे हैं। प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें प्राप्त करके वे आनन्दसे बेसुध हो रही हैं।

८–आठवीं सखी भद्रा भावविह्वला हैं। इसीसे वे 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बोल सकतीं।

फलतः भागवतकारने इस प्रकार रसनिष्पत्ति और साधनतत्त्वकी निष्पत्तिके लिये ही श्रीराधाको भागवतमें छिपाकर रक्खा है। भागवतकारका यह गूढ़ चित्रण अनुपम माधुर्यमय, भावमय और प्राणाराम है। जो लोग 'भागवतमें श्रीराधाके नामकी गन्ध भी नहीं है' ऐसा कहकर वितण्डा फैलाते हैं, वे क्या भ्रान्तिमें नहीं पड़े हुए हैं?

श्रीमद्भागवतमें श्रीराधा-नाम

भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी सर्वथा अभिन्न और एक ही हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधास्वरूप हैं और श्रीराधा श्रीकृष्णस्वरूप। 'कृ' राधा है और 'ष्ण' कृष्ण। यहाँतक कि 'कृ' में भी 'क' कृष्ण हैं, 'ऋ' राधा। वैसे ही 'राधा' के सम्बन्धमें भी है। किसी भी समय किसी भी देशमें किसी भी निमित्तसे और किसी भी रूपमें श्रीराधाकृष्ण-का पार्थक्य सम्भव नहीं है। एक ही अर्थके दो शब्द हैं, एक ही वस्तुके दो नाम हैं। जब उनमें देश, समय और वस्तुकृत भेद ही नहीं है तो यह बात कैसे कही जा सकती है कि वे दोनों दो हैं? यही कारण है कि श्रीकृष्णकी लीला श्रीराधाकी लीला है और श्रीराधाकी लीला श्रीकृष्णकी। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि अमुक ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी लीला है, श्रीराधाकी नहीं, अथवा श्रीराधाकी लीला है, श्रीकृष्णकी नहीं, सर्वथा असङ्गत है। श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात है।

भगवान् श्रीकृष्णकी अथवा भगवती श्रीराधाकी एकता होनेपर भी अनेकता है। भेदमें अभेद और अभेदमें भेद—यही लीलाका स्वरूप है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह लीला प्राकृत नहीं है। देश, काल और वस्तुओंके भेदकी समाप्ति तो मनके साथ ही हो जाती है। जब विशुद्ध ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होता है, तब उसके साथ ही अज्ञानस्वरूप अथवा अज्ञानकार्य प्रकृतिका भी आत्यन्तिक लय हो जाता है। उस समय केवल विज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही अवशेष रहता है। यद्यपि यह ब्रह्म विशुद्ध तत्त्व है, तथापि प्रकृतिके लयके बादकी स्थिति होनेके कारण तुरीयके नामसे कहा जाता है। जैसे प्रकृति जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप है, वैसे ही ब्रह्म तुरीयस्वरूप है। ब्रह्ममें अवस्थाएँ नहीं हैं और अवस्थाएँ ब्रह्म नहीं हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर ब्रह्म भी एक अवस्था ही सिद्ध होता है। इस ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थित हो गये हैं, उनके लिये भी कदाचित् श्रीराधाकृष्णकी लीला अनुभवका विषय नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तो जाग्रत् आदिकी अपेक्षासे तुरीय स्थिति है और श्रीराधाकृष्णमें द्वितीय, तृतीय, तुरीयका कोई भेद नहीं है। वे सर्वातीत और सर्वस्वरूप हैं। उनके नाम, धाम, रूप और लीला—सब-के-सब विशुद्ध चेतन हैं। वहाँ किसी भी रूपमें जड वस्तुओंका प्रवेश नहीं है। वहाँ भगवान् श्रीराधाकृष्ण ही विभिन्न नाम, रूप और धाम होकर विभिन्न लीलाएँ बनते रहते हैं। हमारी भाषामें जो एक क्षण श्रीराधा है, वही दूसरे क्षण श्रीकृष्ण हैं। जो अब श्रीकृष्ण हैं, वही दूसरे क्षण श्रीराधा हैं। वह अपने स्वरूपमें ही दो-से बनकर विहार करते रहते हैं, परन्तु अपनेसे भिन्न दूसरेको कोई भी पहचानता नहीं। यही बात श्रीध्रुवदासजीने अपने एक पदमें कही है—

> **न आदि न अंत, बिहार करैं दोउ;**
> **लाल प्रियामें भई न चिन्हारी।**

श्रीसूरदासजी भी इन्हींके स्वर-में-स्वर मिलाते हैं—

> **सदा एकरस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।**
> **कोटि कलप बीतत नहिं जानत, बिहरत जुगल सरूप॥**

श्रीमद्भागवतमें श्रीराधा-नामका उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह प्रश्न उठाते समय भगवान् श्रीराधाकृष्णके स्वरूपपर विचार कर लेना चाहिये। भला, यह भी कभी सम्भव है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी लीलाओं-का तो वर्णन हो और श्रीराधाजीकी लीलाओंका न हो? भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनकी सत्-शक्तिसे कर्म-लीला, चित्-शक्तिसे ज्ञान-लीला और आनन्द-शक्तिसे विहार-लीला सम्पन्न होती है। यदि किसी भी ग्रन्थमें भगवान्‌की विहार-लीलाका वर्णन नहीं होता, तो समझना चाहिये कि उस ग्रन्थमें भगवान्‌के आनन्दांशका वर्णन नहीं हुआ है। श्रीमद्भागवत एक पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उनकी आनन्द-प्रधान विहार-लीलाका भी पूर्णतः वर्णन है। एक नहीं, अनेक अध्यायोंमें गोपियोंके साथ

होनेवाली मधुर-लीलाका अत्यन्त सरसताके साथ उल्लेख किया गया है। वेणुगीत, युगलगीत, कुरुक्षेत्रका प्रसङ्ग और सबसे बढ़कर रास-लीलामें तो आठ प्रधान गोपियों और उनमें एक श्रेष्ठ गोपीका भी सुन्दर वर्णन है। इस प्रकार देखते हैं तो मालूम होता है कि श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌की देश, काल और वस्तुसे परे होनेवाली अप्राकृत मधुर-लीलाका स्पष्टतः उल्लेख है और उसमें गोपियों तथा श्रीराधाजीका भी वर्णन है। जब श्रीमद्भागवतमें उनकी लीलाका वर्णन है ही, तब श्रीमद्भागवतमें श्रीराधा-का नाम नहीं है—यह कहकर श्रीमद्भागवतसे श्रीराधाजी-की लीला उड़ायी तो नहीं जा सकती। और इस बातका तो स्वयं ही खण्डन हो जाता है कि श्रीमद्भागवत-की रचनाके समय श्रीयुगलसरकारकी आराधना प्रचलित नहीं थी। इसका निष्कर्ष यह है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीराधातत्त्वका स्पष्ट वर्णन है और श्रीमद्भागवतमें ही क्यों, उपनिषदोंमें भी गान्धर्वी आदि विभिन्न नामोंसे उन्हींके सुयशका सङ्कीर्तन है। रास-लीलाके प्रसङ्गमें अन्य समस्त गोपियोंको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रधान गोपीको एकान्तमें ले गये, अन्ततः उसका कुछ नाम तो होना ही चाहिये।

जब यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका वर्णन है, तब प्रश्न यह रह जाता है कि फिर उनका नाम क्यों नहीं दिया गया? परन्तु यह प्रश्न भी निर्मूल है। क्योंकि श्रीमद्भागवतमें वर्णित अन्य गोपियोंका नामोल्लेख भी तो वहाँ नहीं है। जब किसी भी गोपीका नाम नहीं है, तब श्रीमद्भागवतकारकी यह शैली स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि वे जान-बूझकर किसी भी गोपी या श्रीराधाजीका नाम नहीं लिखना चाहते। जब वस्तुका वर्णन है, तब नाम होना और न होना दोनों ही समान हैं। इस प्रकार कोई भी वस्तुका तो खण्डन कर सकता नहीं। रही बात नामके सम्बन्धमें विकल्पकी, सो दूसरे पुराणोंसे निश्चित हो ही जाती है।

अवश्य ही इस प्रश्नके लिये अवकाश है कि श्रीमद्भागवतकारने 'किस अभिप्रायसे ऐसी शैली अपनायी, जिससे श्रीमद्भागवतमें किसी भी गोपी और श्रीराधाजीका नामोल्लेख न हो सका? परन्तु इस प्रश्नमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह परबुद्धिविषयक है। कोई साधारण पुरुष भी जब ऐसा काम करने लगता है जिसका उद्देश्य वह न बताये, तब दूसरे लोग उसके सम्बन्धमें तरह-तरहके अनुमान करने लगते हैं और जो बात उसके मनमें नहीं होती, उसकी भी कल्पना कर लेते हैं। सम्भव है, उनमेंसे कोई चतुर पुरुष उनके चित्तका ठीक-ठीक अनुमान कर भी लें; परन्तु होता है वह कोरा अनुमान ही। भगवान् व्यास अथवा श्रीशुकदेवजी महाराज अनन्त ज्ञानसम्पन्न हैं। उनकी बुद्धि अगाध है; वे किस उद्देश्यसे कौन-सा काम करते हैं—यह वे ही समझ सकते हैं या जिसे वे कृपा करके समझा दें, वह। ऐसी स्थितिमें उन्होंने किस अभिप्रायसे श्रीराधाजी और गोपियोंका नामोल्लेख नहीं किया, इस प्रश्नका उत्तर या तो उनकी कृपासे ही प्राप्त हो सकता है अथवा केवल अपने या दूसरेके अनुमानपर सन्तोष कर लेनेसे।

फिर भी सहृदय एवं भावुक भक्त श्रीशुकदेवजीकी भावनाके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ सोचते ही हैं। महात्माओंसे ऐसा सुना जाता है कि श्रीशुकदेवजी महाराज श्रीराधाजीके महलमें ही लीलाशुक (तोते) के रूपमें रहते थे और उनकी लीलाके दर्शनमें मुग्ध रहते थे। ऐसे श्रीजीके अनन्य लीलाप्रेमी वक्ता थे और श्रीपरीक्षित्‌जी भी उनके वैसे ही प्रेमी श्रोता। यदि उनके कानोंमें उस समय श्रीराधाजीका नाम पड़ जाता, तो वे इतने भावमुग्ध हो जाते कि आगेकी कथा बंद हो जाती और महीनोंतक वे समाधिस्थ ही रह जाते। परन्तु समय केवल सात दिनका ही था। यही सोचकर श्रीशुकदेव मुनिने श्रीराधानामका उच्चारण नहीं किया। इस सम्बन्धमें एक श्लोक प्रसिद्ध है—

श्रीराधानाममात्रेण मूर्च्छा षाण्मासिकी भवेत्।
नोच्चारितमतः स्पष्टं परीक्षिद्धितकृन्मुनिः॥

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव मुनिने भगवती श्रीराधाका

नामोच्चारण क्यों नहीं किया, इसके सम्बन्धमें श्रीव्रजधामके परम रसिक संत श्रीव्यासजीका एक पद है—

परम धन श्रीराधा नाम अधार।
जाहि स्याम मुरली में टेरत सुमिरत बारंबार ॥
जंत्र मंत्र औ बेद तंत्र में सबै तार कौ तार।
श्रीसुकदेव प्रगट नहिं भाख्या जानि सार कौ सार ॥
कोटिक रूप धरे नँदनंदन, तऊ न पायौ पार।
'व्यासदास' अब प्रगट बखानत डारि भार में भार ॥

अभिप्राय यह कि श्रीराधाजीका नाम तारकका भी तारक एवं श्रीकृष्णनामसे भी गोपनीय है। क्योंकि श्रीराधानाम भगवान् श्रीकृष्णके जीवनका भी आधार और आत्मा है। पद्मपुराणमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और उनके साथ विहार करनेके कारण ही श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्माराम इति प्रोक्त ऋषिभिर्गूढवेदिभिः॥

श्रीकृष्णकी आत्मा राधिका और श्रीराधिकाके आत्मा श्रीकृष्ण हैं। दोनोंमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। पुराणोंमें स्पष्टरूपसे ऐसे वचन मिलते हैं, जिनमें श्रीराधाकृष्णमें भेद देखनेवालेको नरककी प्राप्ति बतलायी है। इसलिये श्रीकृष्णके नाममें श्रीराधाका नाम और श्रीराधाके नाममें श्रीकृष्णका नाम अन्तर्भूत है। कहाँ किसके नामका उल्लेख है और कहाँ नहीं है—इस झगड़ेमें न पड़कर किसी भी नामका आश्रय लेना चाहिये और अपने जीवन, प्राण, मन तथा आत्माको श्रीराधाकृष्णमय बना देना चाहिये।

—शान्तनुविहारी द्विवेदी

श्रीमद्भागवत और उसका सन्देश

(लेखक—श्रीयुत पी० एन्० शंकरनारायण अय्यर बी० ए०, बी० एल्०)

भगवत्प्रेम और आनन्दके अभिलाषी मित्रो! हमारे ही बीचमें रहनेवाले प्रभुके एक सन्देशवाहकके द्वारा उनका प्रगाढ़ चिन्तन करनेकी हमें आज्ञा मिली है। और शास्त्र हमें विश्वास दिलाते हैं कि श्रद्धापूर्वक सामूहिक रूपमें उनका चिन्तन करनेवाले भगवद्रसमें सराबोर हो जाते हैं[1] और उनकी दिव्य लीलाका आदरपूर्वक कथोपकथन करते हैं[2]। अहा! कैसा बानक बना है।

भागवत क्या है?

आज हमें यह विचार करना है कि श्रीमद्भागवत क्या है, और उसका सन्देश क्या है। भागवत ही हमें बतलाती है कि वह एक पुराण है, जिसकी श्लोकसंख्या अठारह हजार[3] है और जो बारह स्कन्धोंमें विभक्त है। उसीसे हमें यह भी अवगत होता है कि श्रीमद्भागवतकी कथा सबके सामने पहले-पहल श्रीशुकदेव मुनिने राजा परीक्षित्को सुनायी थी[4]। उसी

---

१. स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥
(११ । ३ । ३१)

योगीश्वर प्रबुद्ध महाराज निमिसे कहते हैं—'भगवान् श्रीहरि राशि-राशि पापोंको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं। सब उन्हींका स्मरण करें और एक दूसरेको करावें। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेमा-भक्तिका उदय हो जाता है और उस समय रोम-रोम प्रेमानन्दके उद्रेकसे पुलकित हो उठता है।'

२. येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥
(३ । २५ । ३४)

'जो भक्त एक-दूसरेसे मिलकर आदरपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा करते हैं...।'

३. तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते ॥ (१२ । १३ । ९)

'[समस्त पुराणोंके चार लाख श्लोकोंमें] भागवतकी संख्या अठारह हजार है।'

४. सूतके कथनानुसार व्यासजीने श्रीमद्भागवतकी रचना की (१ । ३ । ४०) और उसे शुकदेवजीको पढ़ाया (१ । ३ । ४१), श्रीशुकदेवजीने उसे राजा परीक्षित्को सुनाया (१ । ३ । ४२); सूतजी स्वयं उस सभाजमें उपस्थित थे और वे उसे शौनकादि ऋषियोंको सुनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं (१ । ३ । ४५)।

समय उसे सूतजीने भी सुना था और उन्होंने फिर उसे शौनकादि ऋषियोंको सुनाया था। भागवतका असली स्वरूप क्या है—इस प्रश्नका उत्तर हमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे मिलता है, जब वे उद्धवको भागवतका ज्ञान देते हैं। वे कहते हैं—'मैं तुम्हें अपनी महिमाको प्रकट करनेवाला वह श्रेष्ठ ज्ञान देता हूँ, जिसे विवेकीलोग 'भागवत' कहते हैं[५]।' अतः भगवान्‌की महिमाको प्रकट करनेवाला यह श्रेष्ठ ज्ञान ही श्रीमद्भागवत है।

भागवतका सन्देश—भेदमें अभेद और अनेकतामें एकता

अब यह प्रश्न होता है कि जिस श्रेष्ठ ज्ञानको 'भागवत' कहते हैं, उसका सन्देश और तात्पर्य क्या है। जिन चार श्लोकोंमें भगवान्‌ने उसका ब्रह्माजीको दिग्दर्शन कराया है, उनसे हमें इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। अतएव इन श्लोकोंको 'चतुःश्लोकी भागवत' कहते हैं। भगवान् ही अनेक रूपोंमें भासित हो रहे हैं; अतः हमें चाहिये कि समस्त भूतोंमें,—तथा सर्वत्र हमें जो विविधता, नानात्व और वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है उसके भीतर भी,—उन्हींका दर्शन करें, उन्हींका अनुभव करें। गायत्रीमन्त्रसे भी हमें यही उपदेश मिलता है। 'जो सबको वासुदेवके रूपमें देखता है, उसीका देखना यथार्थ है।' और 'आँख भी वही है, जो केवल उसीको देखती है[६]।' यह 'अनेकतामें एकता और 'सबकी एकरूपता' और उसे जीवनमें अनुभव करनेकी विधि—भागवतका एकमात्र यही उपदेश है। बड़े-बड़े महर्षियोंने किस प्रकार इसका अनुभव किया, इसका भी भागवतमें अनेक जगह वर्णन मिलता है। व्यक्त रूपोंके विविध वैचित्र्यमें इस एकरूपता और आनन्दकी एक झाँकी हमें ३। १५। १४—२२ में दिये हुए वैकुण्ठलोकके वर्णनमें मिलती है। उस विविधता और नानात्वमें कहीं ईर्ष्या अथवा विरोधके लिये स्थान नहीं है। भगवान्‌की प्रेमयुक्त सेवा—इस एक उद्देश्यमें सबका समन्वय हो जाता है। भगवान् जब विविध जातिके पुष्पोंको छोड़कर तुलसीदलोंसे अपने श्रीअङ्गोंको सजाते हैं, तो वे सब फूल भगवान्‌का मधुर स्पर्श प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहनेपर भी भाग्यवती तुलसीसे डाह नहीं करते अपि तु उसके तपको धन्य-धन्य कहते हैं[७]। भौंरोंका सर्दार जब इस प्रकार गुनगुनाता हुआ आता है मानो वह श्रीहरिकी ही कथा गा रहा हो, तब जितने भी पक्षी उस समय भगवान्‌का गुणगान कर रहे होते हैं, वे सब-के-सब उसके प्रति आदरका भाव दिखलाते हुए चुप हो जाते हैं—अपना कलरव बंद कर देते हैं[८]। सच पूछिये तो उस वैकुण्ठलोकमें 'भेद' की कल्पना भी इतनी विजातीय है कि जय-विजय-जैसे भगवान्‌के कृपापात्र पार्षदोंको तनिक भी भेदभाव मनमें लानेके दण्डरूपमें इस भेदमय जगत्‌में तीन बार जन्म लेना पड़ा और इस घोर प्रायश्चित्तके द्वारा आत्मशुद्धि हो जाने और भेदबुद्धिका सर्वथा विनाश

५. ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत् सूरयो भागवतं वदन्ति। (३।४।१३)

६. 'वासुदेवः सर्वमिति यः पश्यति स पश्यति।'
'तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः' (१०।८०।४)

७. मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति॥ (३।१५।१९)

८. पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥ (३।१५।१८)

हो जानेपर ही वे पुनः वैकुण्ठलोकमें प्रवेश पा सके[९]। यद्यपि देखनेमें वहाँ अनेकों जीव और पदार्थ रहते हैं, किन्तु वे सब मानो एक सङ्कल्प और एक मनसे अर्थात् भगवान्के सङ्कल्प और भगवान्के मनसे सञ्चालित होकर कार्य करते हैं और वहाँ सर्वत्र एकता और परमानन्दका सुख निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। वृन्दावन और गोकुलका भी ऐसा ही चित्र हमें देखनेको मिलता है। ब्रह्माजी बड़े भक्तिभावसे संक्षेपमें इस बातकी ओर सङ्केत करते हैं और कहते हैं—'प्रभो ! इस व्रजभूमिके किसी वनमें और विशेष करके गोकुलमें किसी भी योनिमें जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी। क्योंकि यहाँ जन्म हो जानेपर आपके किसी-न-किसी प्रेमीके चरणोंकी धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी। प्रभो ! आपके प्रेमी व्रजवासियोंका सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आप ही उनके जीवनके एकमात्र सर्वस्व हैं, इसलिये उनके चरणोंकी धूलि मिलना आपके ही चरणोंकी धूलि मिलना है और आपके चरणोंकी धूलिको तो श्रुतियाँ भी अनादि कालसे अवतक ढूँढ़ ही रही हैं[१०]। वे फिर कहते हैं—'इन व्रजवासियोंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब कुछ आपके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया है, इनका सब कुछ आपके लिये ही है[११]।' गोकुल और वृन्दावनमें जो कुछ था, उसके अंदर एक ही सङ्कल्प और मन अर्थात् श्रीकृष्णका ही सङ्कल्प और मन काम करता था। हमलोगोंकी भाँति वहाँके निवासियोंमें पृथक्-पृथक् विरोधी अहंभाव नहीं था; उनके मन-प्राण श्रीकृष्णके मन-प्राणके साथ एक—सर्वथा अविरोधी होकर काम करते थे। इसीलिये वहाँ सौन्दर्य, आनन्द और माधुर्य सर्वत्र फूटा पड़ता था—यहाँतक कि सौन्दर्य और माधुर्यकी अनन्त निधि श्रीकृष्णका भी सौन्दर्य और माधुर्य उनके इन लीलापरिकरोंके कारण और भी प्रस्फुटित हो जाता था, विकसित हो उठता था[१२]। हमारे इस मर्त्यलोकमें भी जब कभी सच्चे भक्तोंकी मण्डली जुटती है, उस समय इस प्रकारका अनुभव होता है—चाहे वह कितनी ही स्वल्प मात्रामें क्यों न हो।

भेद-दर्शन और उससे होनेवाली जगत्की अस्तव्यस्तताका मूल

सभी जीव अपने वास्तविक स्वरूपमें उन व्रजवासियोंकी ही भाँति भगवान् श्रीकृष्णके लीलापरिकर हैं[१३]। परन्तु भ्रमवश कुछ जीव अपनी स्थितिसे च्युत हो गये, अपने वास्तविक स्वरूपको भूल गये। उन्होंने अपनी ही भ्रान्त बुद्धिकी कल्पनासे अपनेसे अतिरिक्त कुछ

---

९. देखिये जय-विजयको शाप देते समय सनकादिके वाक्य—

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥
....
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥
(३ । १५ । ३३-३४)

१०. तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
(१० । १४ । ३४)

११. यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥
(१० । १४ । ३५)

१२. तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥
(१० । ३२ । १४)

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥
(१० । ३३ । ७)

१३. श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—'जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास' (जीवका स्वरूप है—श्रीकृष्णका नित्यदास)। (देखिये चैतन्यचरितामृत, सनातन-शिक्षा, मध्यलीला, अध्याय २०।)

वस्तुएँ कल्पित कर लीं और उनमें आसक्त हो गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका भेद-दर्शन बद्धमूल हो गया और इस भेदमय जगत्के बन्धन और दुःखके साथ उनका अच्छेद्य सम्बन्ध हो गया[१४]। पुरञ्जनोपाख्यानमें इसका विशदरूपसे वर्णन किया गया है[१५]। इस परिच्छिन्न शरीरको भूलसे 'आत्मा' मान बैठना ही इस सारे बखेड़ेकी जड़ है और इसीसे क्षुद्र कामनाएँ, तृष्णा और स्पर्द्धाकी, तथा अन्य जीवोंके साथ प्रतिद्वन्द्विता एवं वैरकी और सारे दुःखजालकी सृष्टि होती है[१६]।

रोगकी ओषधि और भगवान्के साथ एकताकी पुनः प्रतिष्ठा

उपर्युक्त भ्रम और उससे होनेवाले अनर्थोंसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है—अनन्य, प्रगाढ़ एवं तीव्र अनुरागके साथ भगवान्को पुनः प्राप्त करनेकी चेष्टा[१७]। उनके गुणों एवं चरित्रोंका श्रवण करो, उन्मत्त एवं आत्मविस्मृत होकर उनके नाम तथा लीलाओंका कीर्तन करो, संसार कुछ भी कहे—इसकी परवा न करो[१८]। विविध दुःखरूपी दावानलसे दग्ध करनेवाले इस भ्रम और मोहसे छूटनेका और कोई उपाय नहीं है[१९]। श्रीशुकदेवजीके यही अन्तिम वाक्य हैं और यही भागवतके समस्त उपदेशका सार है। शौनकादि ऋषियोंको सम्पूर्ण भागवत सुनानेके बाद सूतजीने अन्तमें जो शब्द कहे हैं, उनका भी प्रायः यही भाव है। वे कहते हैं—'जो लोग भगवान्की लीलाओंका गायन करते हैं, भगवान् उनके हृदयमें प्रवेश करके उनके सारे पाप-तापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जैसे प्रचण्ड वायु मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर देती है अथवा जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देते हैं[२०]।' वे फिर कहते हैं—'जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी अविनाशी भगवान्के नाम, लीला, गुण आदिका उच्चारण नहीं होता वह वाणी भावपूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत्कथा है। जो वाणी और वचन भगवान्के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं वे ही परम पवित्र हैं, वे ही मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं। जिस वचनके द्वारा भगवान्के परम पवित्र यशका गायन होता है वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभाव-

---

१४. भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो ....
अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया ... (११।२।३७-३८)

१५. देखिये चतुर्थ स्कन्धके अध्याय २६ से २९ तक।

१६. अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥
रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥
करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः॥
(११।१३।९-११)

१७. ...अतो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं .....
(११।२।३७)

१८. शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
(११।२।३९)

१९. संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥
(१२।४।४०)

२०. सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
(१२।१२।४७)

से सदाके लिये सूख जाता है[२१]।' इस प्रेम-मदसे छककर मनुष्य सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। 'जब भगवान्के लीलाशरीरोंसे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम गुण और चरित्रोंको श्रवण करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओंके मारे कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह सङ्कोच छोड़कर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने और नाचने लगता है; जिस समय वह ग्रहग्रस्त पागलकी भाँति कभी हँसता है, कभी करुण क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगोंकी वन्दना करने लगता है; जब वह भगवान्में ही तन्मय हो जाता है और सङ्कोच छोड़कर श्वास-श्वासमें 'हरे! जगत्पते!! नारायण!!!' कहकर पुकारने लगता है—तब भक्तियोगके महान् प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार—भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोंका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्को प्राप्त कर लेता है[२२]।' इस प्रकारका प्रेम-मदसे छका हुआ भक्त सारे जगत्को पवित्र कर देता है[२३]।

श्रीगौराङ्गदेव

एक प्रकारसे यही श्रीमद्भागवतका सन्देश है। भगवान्की लीलाओंका निरन्तर भावमग्न होकर गान करना, प्रेमके नशेकी मस्ती और इस प्रकारकी भक्तिकी सारे जगत्को पवित्र करनेकी शक्ति—ये सब बातें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके जीवनमें प्रत्यक्षरूपसे चरितार्थ हुई थीं। जो कोई श्रीमद्भागवतके सन्देशको हृदयङ्गम करना और उसके रसका अनुभव करना चाहे, उसके लिये श्रीगौराङ्गदेवकी लीलाका निरन्तर चिन्तन करनेसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। हम भी अपनी इस आलोचनाको श्रीरूपगोस्वामीकी निम्नलिखित टेरके स्वरमें स्वर मिलाकर समाप्त करते हैं, क्योंकि इससे बढ़िया इसका उपसंहार नहीं हो सकता—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥

(विदग्धमाधव १। २)

'शचीके दुलारे श्रीगौराङ्ग सदा आप लोगोंके हृदय-मन्दिरको उल्लसित करें। उनके रूपमें स्वयं श्रीहरि ही हेमकी-सी सुन्दर आभाको लिये हुए संसारको उदात्त, उज्ज्वल एवं रसपूर्ण अलौकिक भक्ति (मधुरभक्ति)के नवीन मार्गकी शिक्षा देनेके लिये इस कलियुगमें प्रकट हुए थे।'

---

२१. मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥ (१२। १२। ४८-४९)

२२. निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद् हसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥
(प्रह्लादजीका असुरबालकोंको उपदेश—७। ७। ३४-३६)

२३. वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(उद्धवके प्रति श्रीकृष्णका वचन—११। १४। २४)

श्रीमद्भागवतकी महत्ता

(लेखक—पं० श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम्० ए०, विद्यावारिधि, धर्मविनोद)

'गौरवेण इदं महत्'

श्रीमद्भागवत ऐसा महान् ग्रन्थ है कि इसका मूल्य आँका नहीं जा सकता। इस बातको प्रकट करनेवाली दो सूचनाएँ हमें मिलती हैं। एक तो यह कि भगवान् वेदव्यासको अन्य पुराण तथा भारत-जैसे मनोहर ग्रन्थोंकी रचना करनेपर भी असन्तोष रहा और इस श्रीमद्भागवतकी रचनासे उनकी आत्माको तृप्ति मिली। दूसरी सूचना यह है कि पद्मपुराणके वर्णनके अनुसार प्रणव तथा गायत्रीकी भाँति इस भागवतकी—परमहंस-संहिताकी अन्य सब साधनोंके साथ तुलना करनेपर सत्यके दर्शनमें इसीकी विशेषता जान पड़ी। इस विशेषताके कारणोंमें श्रीवेदव्यासके विद्यावैभवकी परिपक्वता, सरस्वती-तटकी पुण्यभूमिका प्रभाव, भगवद्गुणानुवादकी स्वतःसिद्ध महिमा इत्यादि रक्खे जा सकते हैं।

'महान् ऊर्मिकाव्य' के रूपमें

श्रीमद्भागवतको 'पुराण' संज्ञा दी गयी है। यह पुराण तो है ही, परन्तु साथ ही यह एक 'महान् ऊर्मिकाव्य' भी है। सम्पूर्ण वाङ्मयको दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है—(१) शास्त्र और (२) साहित्य। आप्त ऋषि-मुनियोंद्वारा रचित अथवा उनके द्वारा प्राप्त ग्रन्थोंको शास्त्र कहते हैं और मनुष्योंद्वारा रचित ग्रन्थ साहित्यके अन्तर्गत हैं। पुराणोंका समावेश शास्त्रोंमें है, परन्तु यह पुराण एक श्रेष्ठ महाकाव्य भी है। अंग्रेज विवेचक वॉट्स डंटन अपनी मनोहर काव्यमीमांसामें वीरकाव्य अथवा महाकाव्यके समकक्ष 'महोर्मिकाव्य' नामक काव्यका एक प्रकार बतलाते हैं। इस प्रकारके काव्य हिब्रू भाषामें हैं, ऐसा वे कहते हैं। (देखिये 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' आवृत्ति ११ वीं, जिल्द २१, पृष्ठ ८८७।) महोर्मिकाव्यका प्रधान लक्षण यह है कि वह धार्मिक होना चाहिये। उक्त डंटन महोदयने इस प्रकारके काव्यके तीन मुख्य तत्त्व बताये हैं—अनहंकार, सामर्थ्य एवं कान्ति। इस कसौटीपर कसनेसे भी श्रीमद्भागवतकी उत्कृष्ट महोर्मिकाव्य (Great Lyric) में गणना हो सकती है। भागवतकी काव्यप्रभा सुविख्यात है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ भारतके चूडान्त विद्वान् आर्योंकी भक्ति एवं पूजाका पात्र हो रहा है, तथा इसके आधारपर तीन-चार धर्मसम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है। अतः इसके सामर्थ्यके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं है। फिर इस ग्रन्थकी सात्त्विकता तो इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि अभिमानको गलानेमें भागवतका प्रसाद—इसकी शक्ति अद्वितीय मानी जाती है। इस प्रकारके महोर्मिकाव्यका इतना बृहत् एवं सुबद्ध ग्रन्थ अन्य किसी भाषामें देखनेमें नहीं आता।

इतिहासके रूपमें

अब ऐतिहासिक दृष्टिसे श्रीमद्भागवतका दर्शन करें। श्रीमद्भागवत एक पुराण है—पुरातन इतिहासग्रन्थ है। सामान्य इतिहास तथा पुराणमें यह अन्तर है कि इतिहास पुराणका एक अङ्गमात्र है। फिर लौकिक इतिहासमें तो केवल एकाध देशका, थोड़े-से समयका तथा मर्यादित—सीमित दृष्टिसे युक्त आधिभौतिक इतिहास होता है; जब कि पुराणमें अनन्त कालका तथा अखिल विश्वका आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इतिहास रहता है। लौकिक इतिहासमें घटनाओंका कार्य-कारणभेद कल्पना अथवा तर्कके आधारपर किया हुआ होता है और वह बहुधा भ्रमकी परम्परासे ग्रस्त सिद्ध होता है। इसके विपरीत पुराणमें योगदृष्टिसे

सम्पन्न मुनियोंके अप्रतिहत ज्ञानके कारण वस्तुस्थिति एवं कार्यकारणभावका यथार्थ निर्देश किया होता है। हिरण्यकशिपुंकी कुबुद्धि एवं प्रह्लादकी सद्‌बुद्धिका कारण भी उसमें उसके आप्त लेखककी अखिलदर्शनमयी दृष्टिसे विदित हो जाता है। हमें उसमें नारद, जय-विजय, नहुष, भरत इत्यादिके जन्म-जन्मान्तरोंकी आनुपूर्वीका दर्शन होता है। उसी प्रकार देव, दानव, मनुष्य इत्यादिकी जीवनचर्याके दर्शनद्वारा सम्पूर्ण विश्वका लोक-लोकान्तरसहित दर्शन होता है। फिर लौकिक इतिहास अनर्थकारक प्रवृत्तियोंको भी रसपूर्वक—कई बार प्रशंसापूर्वक—भिन्न-भिन्न लेखकोंकी रुचिके अनुसार—चित्रित करता है; जब कि पुराण तो इतिहासमेंसे केवल सारभूत वस्तुको लेकर उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करता है। पुराणमें उसके रचयिताकी दिव्यदृष्टिके कारण सत्यका सम्पूर्ण एवं अखण्डित दर्शन होता है; और भागवत-जैसे पुराणमें तो अविद्याजनित विश्वके समग्र इतिहासका वर्णन सारभूत अपाश्रय अथवा अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें निष्ठा उत्पन्न करनेके लिये किया होता है; इससे अधिक निष्पक्ष इतिहास दूसरा कौन हो सकता है। सामान्य एवं विशिष्ट मनुष्योंमें तो अपने-अपने आग्रह, पक्षपात तथा सहज द्वेष होते हैं एवं इतिहासोंमें भी कोई लेखक प्रजातन्त्रके सिद्धान्तका विकास करनेके लिये, तो कोई स्वतन्त्रताको, कोई स्वच्छन्द शासनको, कोई साम्राज्यवादको, कोई एकतन्त्र अधिकारको, तो कोई किसी दूसरी ही भावनाको (अपने-अपने पूर्वाग्रहके अनुसार) पुष्ट करनेके मौलिक दृष्टिबिन्दुसे लिखता है। इस प्रकार दृष्टिबिन्दुके मर्यादित बन जानेपर भी इतिहास बराबर लिखे ही जा रहे हैं तथा कालान्तरमें केवल अल्मारियोंकी शोभाके साधन बनते जा रहे हैं। परन्तु पुराणान्तर्गत इतिहास, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, लौकिक इतिहासकी अपेक्षा अधिक सत्य, अधिक सुबद्ध, अधिक व्यापक एवं अधिक कल्याणकर होनेके कारण इतिहासरूपमें भी श्रीमद्भागवत अत्यन्त ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित है।

आक्षेप-निरसन-बिन्दु

हमलोगोंकी जो श्रद्धा पाश्चात्त्य भ्रामक विचारोंके कारण नष्ट हो गयी है, उसे इस प्रकार पुनः स्थापित करके यदि देखा जाय तो पुराणसम्बन्धी अनेक आक्षेपोंका निराकरण एक ही साथ हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें सृष्टिकी उत्पत्तिसे लेकर सृष्टिके लयपर्यन्तके इतिहासका दिग्दर्शन कराया गया है। अतः उसमें अनेकों आश्चर्य, असाधारण घटनाएँ तथा कल्पनातीत प्रसङ्ग दृष्टिगोचर हों तो इसमें कोई नयी बात नहीं है। उसमें कपिल-देवहूति-कर्दम, दिति-अदिति, इन्द्र-वृत्रासुर तथा हिरण्याक्ष-वराह आदिके आधिदैविक जगत्‌से सम्बन्ध रखनेवाले प्रसङ्ग आये हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण-भगवान्‌के भी कई एक प्रसङ्ग भौतिक जगत्‌से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, तो कई प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध केवल दैविक-जगत्‌से है। इस संसारमें आध्यात्मिक, दैविक तथा भौतिक जगत्‌का साथ-ही-साथ विलास हो रहा है। परन्तु मानवदृष्टि उसका समग्र दर्शन करनेमें असमर्थ है, अतएव उसे बहुत-सी बातें आश्चर्यमय, आकस्मिक एवं अयोग्य-सी प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी विशेष ध्यानमें रखनेयोग्य है कि पुराणकी कथाएँ केवल वर्तमान चतुर्युगीकी ही नहीं हैं। इस कल्पके आदि मनु स्वायम्भुव मनुके समयसे लेकर वर्तमान चतुर्युगी-तकके सारे इतिहासका दोहन श्रीमद्भागवतमें है। अभीतक हमारे इस चालू कलियुगके केवल पाँच हजार वर्ष व्यतीत हुए हैं। इसके पूर्ववर्ती सत्ययुग, त्रेता एवं द्वापरयुगोंके ही लगभग ३८ लाख वर्ष हो जाते हैं। एक चतुर्युगी (सत्ययुग+त्रेता+द्वापर+कलियुग) का परिमाण करीब ४३ लाख वर्ष होता है। इस प्रकारकी ७१ चतुर्युगियों-का एक मन्वन्तर होता है। वर्तमान कल्पके ऐसे-ऐसे

छः मन्वन्तर बीत चुके हैं तथा इस समय सातवें मन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीका कलियुग चल रहा है। इन सबका जोड़ लगानेसे इसके वर्षोंकी संख्या बतायी जा सकती है, परन्तु इतनी मगजपच्ची करनेकी आवश्यकता नहीं है। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वायम्भुव मनुको हुए करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। अब श्रीमद्भागवतके अवलोकनसे विदित होगा कि हिरण्याक्ष एवं वराहभगवान्की, ध्रुवकी, प्रह्लादकी, पृथु राजाकी, भरतकी तथा दधीचि आदिकी कथाएँ स्वायम्भुव मन्वन्तरकी कथाएँ हैं। दूसरे मन्वन्तरमें वेदशिरा ऋषिके यहाँ भगवान्का विभु नामक अवतार हुआ। तीसरे मन्वन्तरमें धर्मकी सूनृता नामक पत्नीके गर्भसे भगवान्का सत्यसेन नामक अवतार हुआ। चौथे मन्वन्तरमें भगवान्का हरि नामक अवतार हुआ और उन्होंने ग्राहके चंगुलसे गजराजको छुड़ाया। पाँचवें रैवत नामके मन्वन्तरमें भगवान्का वैकुण्ठ नामक अवतार हुआ। छठे मन्वन्तरमें भगवान्ने अजित नामक अवतार लिया। उस प्रसङ्गमें उन्होंने कछुएका रूप ग्रहण कर अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको धारण किया, देवताओं तथा दानवोंने समुद्रमन्थन किया तथा भगवान्ने देवताओंको अमृत पिलाया था। सातवें (वर्तमान) मन्वन्तरमें कश्यप ऋषिके यहाँ अदितिके गर्भसे भगवान्का वामन अवतार हुआ, इन सबकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें पूरी होती है। वर्तमान (सातवें) मन्वन्तरकी कथा नवम स्कन्धसे आरम्भ होती है। इन कथाओंका वर्णन प्रारम्भ करनेके पूर्व ही महात्मा शुकदेवजी कह देते हैं कि 'मैं केवल मुख्य-मुख्य कथाओंको ही कहूँगा, क्योंकि मानव-वंशका सविस्तर वर्णन तो सैकड़ों वर्षोंमें भी पूरा नहीं हो सकता (-देखिये श्रीमद्भागवत ९। १। ७)। अतः कई भाई जो श्रीमद्भागवतमें वर्णित राजाओंका एक-सा काल मानकर तथा उनकी वर्ष-संख्या जोड़कर सृष्टि अथवा मानव-इतिहासके समयकी कल्पित मर्यादा बाँधते हैं और फिर कहते हैं कि 'अमुक बातकी सङ्गति नहीं बैठती, अमुक बात सम्भवनीय अथवा असम्भवनीय है, अतः इसका इतना अंश झूठा और इतना सत्य है अथवा वे सारी-की-सारी बातें काल्पनिक हैं, इत्यादि।' उनका यह कथन समग्रतया काल्पनिक अनुबन्धों—आधारोंपर स्थित है, ऐसा कहा जा सकता है। यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि इस प्रकारकी करोड़ों वर्षों पूर्वकी घटनाओंको दिव्य योगदृष्टिसे ही देखा जा सकता है और शास्त्रकारोंको उस प्रकारकी दृष्टि प्राप्त होनेसे ही वे लोग उन घटनाओंकी रूप-रेखाका दर्शन कर-करा सके थे।

तत्त्वज्ञानके ग्रन्थरूपमें

अब श्रीमद्भागवतका तत्त्वज्ञानके ग्रन्थरूपमें दर्शन करें। उपनिषद् तत्त्वज्ञानकी महानिधिके समान हैं, यह बात सर्वमान्य है। षड्दर्शन इन उपनिषदोंके सम्यग्दर्शनके लिये तैयार करनेवाली दर्शनभूमिका हैं। यहाँ छहों दर्शनोंके उल्लेखका अभिप्राय यह है कि उत्तरमीमांसा-दर्शनकी पारिभाषिक योजना तथा वाद-विवादोंसे भी परेका जो ज्ञान है, जिसमें सारे वाद-विवाद शान्त हो जाते हैं, वही ज्ञान भगवती श्रुतिके शिरोवाक्योंका—उपनिषदोंका लक्ष्य है। तत्त्वचिन्तनकी प्रस्थानत्रयीके अन्य दो प्रस्थान हैं—व्याससूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता। हम यह कह सकते हैं कि अन्य देशों तथा भाषाओंके तत्त्वचिन्तनविषयक समस्त ग्रन्थोंमें इस कोटिके सर्वमान्य, शास्त्रसम्मत एवं अकाट्य ग्रन्थ नहीं हैं। इसके विपरीत हमारे देखनेमें तो यह आता है कि अरिस्टॉटल, बेकन, कैंट, स्पेन्सर, कॉंटे इत्यादिके तत्त्वग्रन्थोंने एक दूसरेके ऐसे-ऐसे खण्डन किये हैं कि यूरोप-अमेरिकामें इस समय निश्चित तत्त्वज्ञान-जैसी कोई वस्तु है—यह बात शायद ही मानी जाती है। तत्त्वचिन्तनके ग्रन्थ वहाँ केवल बुद्धि तीव्र करनेके साधनरूपमें ही माने जाते हैं। अतः अब उपर्युक्त प्रस्थानत्रयको लेकर हम कह सकते हैं कि उपनिषद् ज्ञानरूप दूधसे भरी हुई अनेक गौएँ हैं, परन्तु इनके अनेक होनेके कारण अनजान बछड़ोंको थोड़े उलझनमें—सङ्कोचमें पड़ना पड़ता है। ब्रह्मसूत्र इन

सब गौओंको रस्सीसे बाँधकर हमारे पास लाते हैं; परन्तु यह रस्सी बहुतोंको जरा कड़ी एवं शुष्क प्रतीत होती है तथा इससे बाँधी हुई गौएँ भी दुर्बल-सी जान पड़ती हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें हमें श्रीकृष्ण परमात्माके द्वारा दुही हुई इन गौओंका दूध दृष्टिगोचर होता है। परन्तु गीताकी सम्पूर्ण विचार-सरणि, योजना एवं सन्देशभार प्रासङ्गिक, व्यक्तिप्रधान एवं तत्कालीन है। यह दूध मुख्यतया अर्जुनके लिये ही दुहा गया था। श्रीमद्भागवतको श्रीवेदव्यासकी 'समाधिभाषा' भी कहते हैं तथा उसमें भी एकादश स्कन्धको श्रीकृष्ण परमात्माकी समाधिभाषा कह सकते हैं। इसमें जिस ज्ञानका उपदेश किया गया है, वह मानो वेदमाता गायत्रीका भाष्य ही है। श्रीकृष्ण परमात्माने छठेसे लेकर उनतीसवेंतक—चौबीस अध्यायोंमें इस ज्ञानका उपदेश दिया है। यह भागवतीय भगवद्गीता भी श्रीकृष्णभगवान्‌की ही वाणी है, अतः इसकी तुलना यदि महाभारतकी भगवद्गीतासे की जाय तो इसमें कोई सङ्कोचकी बात न होगी। इस भगवद्गीताके श्रोता 'महाभागवत' उद्धव हैं (देखिये भागवत ११।१६। २४ तथा ११।३०।१), तो उसके धनञ्जय अर्जुन। दूसरे, श्रीभारतीय भगवद्गीतामें संग्रामकी उतावलीमें केवल युद्धकी आज्ञाके लिये आवश्यक बातें ही अठारह अध्यायोंमें कही गयी हैं; जब कि इस भागवतीय भगवद्गीतामें सनातनधर्मका तथा कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोगका निरूपण प्राचीन दृष्टान्तोंके साथ विस्तारपूर्वक चौबीस अध्यायोंमें किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय भगवद्गीतामें जहाँ अर्जुन अपनी ही बेचैनीको दूर करनेकी बात पूछते हैं, वहाँ इस भागवतीय भगवद्गीतामें उद्धवजी भविष्यकी प्रजाके लिये धर्म पूछते हैं और भगवान् उन्हें कहते हैं (देखिये भागवत ११।१७। १—८)। पुनः इस भागवतीय भगवद्गीतामें सम्पूर्ण वाङ्मयका तात्त्विक सिद्धान्त (देखिये ११।११। २०), बन्धन एवं क्लेशके मौलिक हेतु (११। ११।१; ११।१४।३०), गुण-दोषके स्वाभाविक लक्षण (११।२०।२६ तथा ११।२१।२), सत्यकी व्याख्या (११।२४।१८) इत्यादि अनेक तात्त्विक विषयोंका निरूपण किया गया है। इसमें कोई अस्वाभाविक अथवा आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि भारतीय गीतामें प्रासङ्गिक उपदेश है, जब कि इस भागवतीय गीतामें भगवान्‌का अन्तिम सन्देश है। तथा उसीकी कुछ तात्त्विक मार्मिक बातें जो प्रसङ्गवश वहाँ नहीं कही गयी थीं, वे यहाँ प्रभुने मनुष्यकी चिरन्तन शान्ति एवं समाधानके लिये कह दी हैं। अर्जुनसे युद्ध कराना अभीष्ट था, इसलिये वहाँ प्रभु बार-बार हिरण्मय पात्रसे सत्यका मुख ढक देते हैं किन्तु यहाँ उस ढक्कनको खोल देते हैं, हटा लेते हैं। भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि इस वाणीमें केवल अद्वैतकी महाविद्या ही अप्रतिहतरूपसे प्रकाशित है—

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥
(११।११।२)

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥
(११।२२।४)

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥
(११।२८।१)

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥
(११।२८।४)

'जगत्‌के शोक-मोह, सुख-दुःख, देहके जन्म-मृत्यु—सब-के-सब केवल मायासे झूठमूठ प्रतीत होते हैं; वास्तवमें इस कार्य-कारणात्मक जगत्‌की सत्ता ही नहीं है। उद्धव! शरीरधारियोंको मुक्तिका अनुभव करानेवाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव करानेवाली अविद्या—ये दोनों ही मेरी शक्तियाँ हैं, मेरी मायासे ही इनकी

रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है।' 'उद्धवजी! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं। मेरी मायाको स्वीकार करके जो कुछ कहा जाय, सब सुसङ्गत ही है।' 'उद्धवजी! यद्यपि व्यवहारमें पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्यके भेदसे दो प्रकारका जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थदृष्टिसे देखनेपर यह सब एक अधिष्ठानस्वरूप ही है; इसलिये किसीके शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा। सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये।' 'उद्धवजी! जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है—यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। विश्वकी सभी वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं अथवा मनसे सोची जा सकती हैं; इसलिये दृश्य एवं अनित्य होनेके कारण उनका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है।'

इस प्रकार इस भागवतीय गीतामें मिताक्षरी १०८० श्लोकोंमें भगवान् सम्पूर्ण ब्रह्मवादका संग्रह कर देते हैं (देखिये भागवत ११।२९।२३) और उसे सुन्दर आख्यायिकाओं, मनोहर उपमाओं एवं रूपक, चित्रों तथा रसभरी भाषामें गूँथ देते हैं। तत्त्वज्ञानका किसी भी भाषाका कोई ग्रन्थ इतनी पूर्णताके साथ रसिकताको लिये हुए दृष्टिगोचर नहीं होता।

इस प्रकार भागवतपर दृष्टिपात करनेके बाद कौन नहीं कहेगा—

'गौरवेण इदं महत्'

श्रीरामः

श्रीमद्भागवतमें दीप-स्तम्भ वा प्रेम-सरिता

(लेखक—रायबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजी)

ॐ रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालङ्कृतं
श्यामाङ्गं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतया शोभितम्।
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैर्भ्रात्रादिभिर्भावितं
वन्दे विष्णुशिवादिसेव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम्॥

ॐ वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

शास्त्रज्ञ महानुभाव विचार करेंगे कि श्रीभगवान्के अवतार-प्रयोजनका निर्णय करनेवाले जैसे स्पष्ट, संक्षिप्त और सर्वभावपूर्ण श्रीगीताजीके निम्नाङ्कित वचन हैं वैसे अन्यत्र नहीं पाये जाते और इस विषयके जो वचन अन्यत्र आये हैं, वे प्रायः इन्हीं वचनोंके अनुवाद अथवा आशय वा छाया हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

इन वचनोंके अनुसार भगवान्के अवतारके पाँच हेतु हैं। यथा—

१—धर्मकी वा धर्मकी ओरसे ग्लानि ('ग्लानि' शब्दके कई अर्थ किये जा सकते हैं। यथा—अभ्युत्थानसे विपरीत अर्थका बोध करानेवाला 'पतन', ह्रास, घृणा, अनादर इत्यादि)।

२—अधर्मका अभ्युत्थान अर्थात् उन्नति।

३—साधुओंकी रक्षा।

४—दुष्टोंका विनाश।

५—धर्मकी प्रतिष्ठा।

प्रथम एवं द्वितीयसे उस परिस्थितिका दिग्दर्शन कराया

गया है जिसके प्राप्त होनेपर अवतार लेना आवश्यक होता है, और तृतीय एवं चतुर्थके द्वारा वे आचरण बतलाये गये हैं, जिनका अवतार लेनेपर अनुष्ठान किया जाता है; और इन दोनों ही युग्मोंमें एक पक्ष दूसरेके विपरीत है अर्थात् एकके भावमें दूसरेका अभाव है। इस विचारसे यदि एक ही पक्ष—धर्मकी वा धर्मसे ग्लानि ही कह दिया जाता तो अधर्मकी प्रबलता स्वतः ही अर्थसे प्राप्त हो जाती। इसी प्रकार साधुओंकी रक्षा कहनेसे दुष्टोंका विनाश भी स्वतः ही समझा जा सकता था; क्योंकि साधुओंकी रक्षाकी आवश्यकता तभी होती है, जब दुष्टोंके द्वारा उनको कष्ट पहुँचता है; और यह दुष्टोंके दमनसे ही हो सकती है। किन्तु एक ही पक्ष न कहकर दोनों पक्षोंके प्रदर्शनकी आवश्यकता समझी गयी; क्योंकि इस त्रिगुणमयी सृष्टिमें यह तो कभी हो ही नहीं सकता कि केवल धर्म-ही-धर्म रहे अथवा अधर्म-ही-अधर्म रहे, दोनोंकी ही सत्ता रहनी अनिवार्य है। इसीलिये दैवी और आसुरी सम्पत्तियाँ सदैव युगपत् रहती हैं, अन्तर केवल उनकी मात्राका रहता है। कभी कोई प्रबल और कभी कोई। और कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है, जब दो समान शक्तिवाले शत्रुओंकी भाँति एकसे दूसरीकी तुल्य प्रतियोगिता होती है। इसलिये एकके कहनेसे दूसरेका अभाव नहीं समझा जा सकता था; अतः दोनों ही पक्षोंका दिखलाना वाञ्छनीय हुआ। इससे सिद्ध है कि भगवान्‌का अवतार केवल अधर्मके प्रबल होनेसे ही नहीं होता, किन्तु उस संकटावस्थामें होता है, जब कि अधर्मकी प्रबलताके साथ-साथ धर्मका ह्रास भी पराकाष्ठाको पहुँच जाता है।

अब रहे तृतीय और चतुर्थ हेतु। इनको भी स्वतन्त्र-रूपसे अलग-अलग दिखलानेका यही प्रयोजन है कि यदि केवल साधुओंकी रक्षाको ही अवतारका प्रयोजन बताया जाता तो उसमें केवल ऐसे दुष्टोंका नाश समझा जा सकता था, जो साधुओंको ही सतानेवाले हों। परन्तु दुष्ट तो प्राणी-मात्रको पीड़ा पहुँचाते हैं, इसलिये दुष्टोंके नाशको पृथक् हेतु बताया गया। इसी प्रकार यदि केवल दुष्टोंका नाश ही कहा जाता तो यही समझा जाता कि दुष्टोंके नाशकी उन सब प्राणियोंकी रक्षाके लिये आवश्यकता है, जिनको वे सताते हैं—जिनमें साधु भी समाविष्ट हैं। परन्तु यहाँ केवल ऐसे साधुओंकी रक्षासे ही प्रयोजन नहीं है, जो दुष्टोंके द्वारा पीड़ित किये जाते हैं; उनके अतिरिक्त ऐसे भी साधु होते हैं, जिनके परित्राणकी अन्य कारणोंसे भी आवश्यकता हो सकती है; अतः ये दोनों हेतु स्वतन्त्ररूपसे दिये गये।

पञ्चम हेतु सामूहिक रूपका है और मुख्य यही है। इसके साथ ही थोड़ी विवेचना अवतार-तत्त्वकी भी करनी आवश्यक है। 'अवतार' संस्कृत भाषाका शब्द है और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'तॄ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ प्लवन वा सन्तरण है। संस्कृत कोषमें इसके अर्थ ये दिये हैं—अवतरण, अवरोह, प्रादुर्भाव। हिन्दी कोषमें इसके अर्थ अनेक हैं। यथा—उतरना, नीचे आना, जन्म लेना, शरीर धारण करना इत्यादि। श्रीगीताजीके उपर्युक्त वचनोंमें अवतारग्रहणके लिये 'आत्मानं सृजामि' तथा 'सम्भवामि' पद आये हैं; और इनसे पूर्वका वचन 'अजोऽपि सन्' इत्यादि है, उसमें भी 'सम्भवामि' पदका ही प्रयोग हुआ है। 'सृजामि' 'सृज् विसर्गे' धातुसे बना है और 'सम्भवामि' में 'सम्' उपसर्ग है और 'भू सत्तायाम्' धातु है।

इन अर्थोंके, अथवा धातु एवं शब्दोंके अनेकार्थ होनेके कारण अन्य अर्थोंके आधारपर जिसकी जैसी भावना, रुचि अथवा श्रद्धा हो या जिसको जिससे शान्ति वा सुख मिलता हो—श्रीभगवान्‌के अवतार लेनेकी विधि वह वैसी ही समझ ले, उनमें सभी विधियाँ घट सकती हैं। चाहे यह मान लें कि वे ऊँचे-से-ऊँचे वैकुण्ठ-साकेतादि धामोंसे उतरकर नीचे पृथ्वीपर पधारते हैं, चाहे उनका मनुष्यके समान मायिक रूपसे अथवा लोकोत्तर अमायिक रूपसे जन्म ग्रहण करना समझ लिया जाय, अथवा यह निश्चय कर लिया जाय कि वे किसी निमित्तको लेकर किसी भी देश वा कालमें और किसी भी रूपमें प्रकट हो जाते हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि श्रीभगवान् सावयव, साकार सगुण रूप धारण करते हैं और इसीके लिये 'अवतार' शब्दका प्रयोग होता है। अब यहाँ तर्क यह उठता है कि यह सगुण रूप श्रीमहाप्रभुके निर्गुण रूपसे प्रकट होता है या इसका कोई और उपादान है। यदि निर्गुणसे होता है तो निर्गुण तो आकार अथवा अवयवोंसे रहित, अमूर्त्त और सर्वव्यापी है; उसका देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न होना क्योंकर सम्भव है ? और यदि यह कहा जाय कि भगवान्‌का सगुण अर्थात् मूर्त्त रूप अमूर्त्त, निर्गुण रूपसे भिन्न—स्वतन्त्र है तो भगवत्-तत्त्व दो भिन्न धर्मोंवाला हो जाता है। इसी प्रकार और भी अनेक तर्क उठ सकते हैं। ऐसे तर्क सदैव उठते रहते हैं और उठते रहेंगे, परन्तु इनके यथार्थ समाधानकी शक्ति आजतक न किसीमें हुई और न हो सकती है। इसका मुख्य कारण यह है कि भगवत्सम्बन्धी विषय दो प्रकारका है—एक

प्रकृतिके अन्तर्गत, जो नियमानुसार होनेसे बुद्धिगम्य है; और दूसरा प्रकृतिसे परे, जो किसी प्रकारके बन्धनमें न होनेसे बुद्धिकी गतिके बाहर है।

इस विषयकी थाह लगानेमें वेद भी तो असमर्थ हैं, जैसा कि निम्नलिखित श्रुतियोंसे सिद्ध है—

'नेति नेत्यस्थूलमनणु'
—इत्यादि।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'
—इत्यादि।

स्वयं श्रीभगवान्‌ने इस विषयको आश्चर्यपूर्ण बताया है, जैसा कि श्रीगीताजीके निम्नलिखित वचनसे सिद्ध है—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(२।२९)

वस्तुतः भगवत्-तत्त्व बुद्धिगम्य होता तो अल्पशक्ति जीव और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मामें अन्तर ही क्या रह जाता, और वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' कैसे हो सकता था। इससे सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌के निर्गुण और सगुण अथवा अमूर्त और मूर्त दोनों ही रूप स्वतन्त्र हैं और दोनों ही रूपोंसे उनकी व्यापकता एवं उनका निमित्त और उपादान कारण होना असन्दिग्ध है।

श्रीगीताजीके सप्तम अध्यायमें निर्गुणरूपसे और नवममें सगुणरूपसे भगवान्‌की व्यापकता एवं निमित्त और उपादान कारण होना सिद्ध किया गया है, तथा पुरुषसूक्तसे भी सगुण रूपकी व्यापकता प्रमाणित होती है। ऐसे और भी अनेक प्रमाण हैं। इतनी बात अवश्य है कि निर्गुण ब्रह्मकी व्यापकता तो आकाश अथवा वायुके दृष्टान्तसे समझमें आ सकती है; किन्तु सगुण रूप—जो प्रत्यक्षमें देश, काल एवं वस्तुसे परिच्छिन्न है—कैसे व्यापक हो सकता है—इसका समझना सरल नहीं है। इस बातको समझनेके लिये पहले तो भौतिक सृष्टिकी ओर ही दृष्टि डाली जाय। पाँचों तत्त्वोंमें न केवल आकाश अथवा वायु ही व्यापक है किन्तु अग्नि, जल एवं पृथ्वी भी—जिनके स्थूल रूप भी देखनेमें आते हैं—सूक्ष्मरूपसे व्यापक हैं। तनिक बिजलीका बटन दबाने, दियासलाई रगड़ने या चकमक पत्थर वा बाँस घिसनेकी देर है; फिर तो अग्निदेव तत्काल वहाँ दर्शन देकर अपना प्रकाश फैला देते हैं। यह वही अग्नि है, जो सूक्ष्मरूपसे व्यापक है और जो साधनके द्वारा तत्काल प्रकट होकर स्थूल रूप धारण कर लेती है। जब भौतिक पदार्थोंमें यह शक्ति है, तो सर्वशक्तिमान्‌के लिये तो कहना ही क्या है।

श्रीनृसिंहभगवान्‌का अवतार भी सगुण रूपकी व्यापकता सिद्ध करता है; जब इच्छा की, तुरंत स्तम्भसे प्रकट हो गये। श्रीकौसल्या माता, श्रीयशोदा माता, श्रीपार्वती माता, काकभुशुण्डिजी तथा अक्रूरजीको, कौरवोंकी सभामें एवं अर्जुनको जिन विचित्र और अद्भुत रूपोंका दर्शन कराया गया उनसे भी सगुण रूपकी व्यापकता ही प्रदर्शित की गयी। इन घटनाओंकी कथाएँ तो प्रसिद्ध ही हैं; किन्तु एक और भी चमत्कार सुनने योग्य है, जिसकी अधिक ख्याति नहीं है। दुर्योधनका वध अश्वत्थामाके लिये असह्य होनेके कारण वह सोये हुए पाण्डवपुत्रोंके प्राणहरणका संकल्प करके उनके शिविरपर गया तो वहाँ द्वारपर एक महाकाय भयङ्कर भूत खड़ा था, जिसके तेजकी किरणोंसे सहस्रों श्रीविष्णुभगवान् उत्पन्न हो गये। जैसा कि निम्नलिखित वचनसे प्रकट है—

तथा तेजोमरीचिभ्यः शङ्खचक्रगदाधराः।
प्रादुरासन् हृषीकेशाः शतशोऽथ सहस्रशः॥
(महाभा० सौप्तिक पर्व, ६।९)

यद्यपि ऊपर दिये हुए प्रमाणों एवं चरित्रोंसे ही श्रीभगवान्‌का मूर्त्तरूपमें व्यापक होना सिद्ध है, परन्तु इन चरित्रोंके विषयमें कहा जा सकता है कि रावण-मेघनादादि राक्षस एवं दैत्य आदि भी आसुरी विद्याके द्वारा अनेक प्रकारकी माया रच सकते थे और भरद्वाजादि महर्षियोंके योगबलप्रयुक्त अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं; फिर श्रीभगवान् तो महायोगिराजोंके भी योगिराज हैं और मायापति हैं, उनके लिये ऐसे चमत्कार दिखाना क्या दुर्लभ है। इसलिये इन सबके होते हुए भी एक ऐसा विचित्र चरित्र दिखलानेकी आवश्यकता है, जिसमें कैसे भी अधिकारी और जिज्ञासुको तर्कके लिये कुछ भी अवकाश न रहकर पूर्ण सन्तोष हो जाय।

भूमिकारूप इस निरूपणसे ज्ञात होगा कि तीन परम गहन विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है—

१—अवतार ग्रहण करनेके लिये ऐसी विकट परिस्थिति

कब समझी जाय, जिसमें अधर्मके चरम सीमाको पहुँचने और साथ ही धर्मका भी परमावधि पतन होनेसे श्रीभगवान्-का सिंहासन हिलकर उन्हें अवतार लेना अनिवार्य हो जाय ?

२—दुष्टोंके द्वारा पीड़ित होनेवाले साधुओंसे भिन्न वे और कौन साधु हैं, जिनकी अन्य कारणोंसे रक्षाके लिये श्रीभगवान्-का अवतार आवश्यक होता है ?

३—वह चरित्र क्या है, जिससे श्रीभगवान्‌का सगुणरूपसे व्यापक होना निःसन्देह हो जाय ।

पुराण, संहिता, रामायण आदि ग्रन्थोंमें कितना भी अन्वेषण किया जाय—जहाँतक विचारकी गति है, इन प्रश्नोंका सन्तोषप्रद समाधान प्राप्त होना कठिन है । पक्षपातशून्य दृष्टिसे देखनेपर श्रीमद्भागवतके द्वारा ही इनका समाधान सम्भव है; प्रत्युत यहाँतक कहा जा सकता है कि इस अपूर्व ग्रन्थकी रचनाका मूल कारण ही ऐसे रहस्यमय चरित्रोंका उद्घाटन है । इसको 'पुराण' नामसे प्रसिद्ध किया गया है, इसलिये पुराणोंके लक्षणानुसार मन्वन्तरादि एवं उनके भीतर होनेवाले श्रीभगवान्‌के अनेक अवतारोंकी कथाओंका वर्णन तथा सृष्टिरचनाके क्रम आदि-का निरूपण तो आवश्यक था ही; परन्तु वस्तुतः उसका मूल लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजी महाराजका चरित्र-चित्रण करना था, जो दशम स्कन्धमें विशदरूपसे किया गया है ।

इसमें उनकी अनेक लीलाओंका, जो श्रीगोकुल-वृन्दावनमें नन्दबाबा एवं यशोदा मैयाके लाड़-प्यारमें—माधुर्यभावमें रहकर की गयीं तथा जो श्रीमथुराजीमें अपने पूज्य माता-पिता एवं स्वजनोंको परम आह्लाद देते हुए माधुर्य एवं ऐश्वर्यके मिश्रित भावमें हुईं अथवा जिनका द्वारकापुरीमें विराजकर विशेषतः ऐश्वर्यभावसे सम्पादन हुआ, पूर्ण भक्ति-पूर्वक तथा परम प्रेम, मधुरता एवं सरसतासे श्रीभग-वदवतार त्रिकालदर्शी व्यासजी महाराजद्वारा वर्णन किया गया है । श्रीभगवान्‌की ये सभी लीलाएँ रहस्यपूर्ण हैं; किन्तु उस परम अगाध एवं अनिर्वचनीय लीलाका चमत्कार एवं विलक्षणता अपार है, जो श्रीब्रह्माजीको मोह एवं अज्ञान होनेपर घटित हुई ।

कथानकके ढंगसे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीशुकदेवजी महाराजकी इच्छा इसको गोपनीय ही रखनेकी थी; क्योंकि जैसा और लीलाओंका अनुक्रमसे वर्णन हुआ, वैसा इसका नहीं हुआ और यह ज्ञात होनेपर कि बालकोंने भगवान्‌के द्वारा कौमार-अवस्थामें किये गये अघासुर-वधकी कथा उनका पौगण्ड-अवस्थामें प्रवेश होनेपर एक वर्ष पीछे व्रजमें प्रकट की, जब श्रीमहाराज परीक्षित्‌ने प्रश्न किया, तब इसका वर्णन हुआ है । यथा—

राजोवाच—

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।
यत् कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ४१)

ब्रह्मन् ! भला, जो काम सालभर पहले हो गया था, वह उसी समयका कैसे हो सकता है ? श्रीहरिने जो काम पाँच वर्षकी अवस्थामें किया, उसे ग्वालबालोंने उनकी छः वर्षकी अवस्थामें उसी दिनका किया हुआ कैसे बताया ?

इस कथाका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है कि अघासुरका वध करके और उससे ग्वालबालोंको बचाकर श्रीभगवान् उन सबको साथ लिये हुए सर्वद्वन्द्वहारिणी श्रीकालिन्दीके कोमल बालुकामय तथा प्रफुल्लित कदम्बके पुष्पोंकी मधुर और भीनी सुगन्धसे मत्त भ्रमरोंद्वारा गुंजायमान, परम रम्य तटपर पधारे । वहाँकी अलौकिक शोभासे मुग्ध होकर उनके सखाओंने भगवान्‌के साथ अपने-अपने छीकोंसे ले-लेकर वहाँ भोजन करना आरम्भ कर दिया और हास्यरसपूर्ण वार्तालाप होने लगा । उस समयकी योगिजन और देवादिको भी मोहित करनेवाली छटाके दर्शनका निम्नलिखित वचनसे सौभाग्य प्राप्त किया जाय—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ११)

अपनी फेंटमें बाँसुरी खोंसे, सींग तथा बेत काँखमें दबाये, बायें हाथमें नवनीतमिश्रित दध्योदनका कौर लिये, अँगुलियों-में अनेक प्रकारके फलोंको अथवा फलोंके मुरब्बे-अचारोंको रक्खे हुए यज्ञभोक्ता श्रीकृष्णभगवान् स्वर्गवासियोंके देखते हुए अपने चारों ओर बैठे हुए सखाओंके बीचमें विराजकर हँसीके वचनोंसे उनको हँसाते हुए क्रीडापूर्वक भोजन कर रहे थे ।

इसी अवसरमें बछड़े कहीं दूर चले गये । जब ग्वाल-बालों-को चेत हुआ तो वे घबड़ाये;परन्तु श्रीभगवान् उनको आश्वासन

देकर स्वयं बछड़ोंको लौटानेके लिये कौर हाथमें लिये हुए ही पधार गये। यह बीच पाकर श्रीब्रह्माजीने उधर तो बछड़े चुराये और इधर ग्वालबालोंको उड़ाया। श्रीभगवान्‌को तो यह सब विदित ही था।

अब यहाँ विचारनेकी बात यह है कि जो आदिदेव, जगत्‌के परमगुरु एवं सर्वदेवपूज्य थे; जिनका नाम श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होनेके कारण स्वयम्भू हुआ; जिनसे समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और जिन्होंने प्रजाविसर्गके कार्यमें मद-अहंकार न होनेका श्रीभगवान्‌से वरदान माँग लिया था; यथा—

अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ॥
(श्रीमद्भा० २।९।२९)

अर्थात् निश्चिन्त होकर आपकी सेवामें तत्पर रहते हुए मेरा अपनेको स्वतन्त्र एवं अजन्मा मानकर मद न बढ़ जाय।

ऐसे श्रीब्रह्माजीके मोहका इतना वेग बढ़ा कि उनका अन्तःकरण आवरण, मल एवं विक्षेपका भंडार हो गया— जिसके कारण उनकी मनोवृत्ति यहाँतक गिर गयी कि वे श्रीभगवान्‌को न पहचान सके। इतना ही नहीं, उन्हें श्रीभगवान्‌की परीक्षा लेनेकी सूझी और वह परीक्षा भी घोर, कुत्सित, घृणित, नीच एवं आततायीके कर्म चोरीद्वारा की गयी और चोरी भी कहाँ—स्वयं श्रीभगवान्‌की परम प्रिय सम्पत्तिपर छापा मारा गया। भला, यह क्या साधारण पापाचरण एवं अधर्म था कि श्रीब्रह्माजी जिनपर जगत्‌के गुरु और पिता होनेके नाते धर्म तथा सदाचरणकी शिक्षा एवं उपदेशका दायित्व है, उनका हृदय आसुरी भावोंसे इस सीमातक कलुषित हो गया कि उनकी स्वाभाविक दैवी प्रकृति सर्वथा नष्ट हो गयी। वस्तुतः उस समय दैवी प्रकृतिका पूर्ण गिराव था, जिसके कारण सुकृती पुरुष भी दुष्कृतियोंके-से दुराचरणमें प्रवृत्त हो गये। जब स्वयं श्रीब्रह्माजीको ऐसा मोह हो गया, तब और दैवी सम्पत्तिवाले भी कैसे बच सकते थे। इसलिये इन्द्रदेव भी इसके लक्ष्य बने, जिनके द्वारा व्रजपर मूसलधार वर्षाकी कथा प्रसिद्ध है। और जब श्रीब्रह्माजी तथा इन्द्रकी भी यह गति हुई, तो और देवोंका तो कहना ही क्या है।

दुष्ट एवं कुमार्गी प्राणियोंके द्वारा अनाचारका जोरोंके साथ होना तो स्वाभाविक है; इससे अधर्मकी वृद्धि कही जा सकती है, किन्तु धर्मकी क्षति माननेका कोई कारण नहीं हो सकता। परन्तु जब दैवी सम्पत्ति भी आसुरी सम्पत्तिमें इतने वेगसे बदल जाय तो दोनों दशाओंकी घोर उग्रता सिद्ध होकर वह उत्कट परिस्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके कारण श्रीगीताजीके वचनानुसार श्रीभगवान्‌को अवतार लेनेकी आवश्यकता होती है। श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार हुए बिना श्रीब्रह्माजी तथा इन्द्रका मोह निवृत्त होना असम्भव था, जिसका परिणाम यह होता कि सारा जगत् पापसे व्याप्त हो जाता और दैवी सम्पत्ति केवल चिह्नमात्र रह जाती। इस लीलाकी इतिश्री यहींपर नहीं हो जाती, किन्तु आगेके भागका चमत्कार एवं अद्भुतता ऐसी है कि जो अन्यत्र सर्वथा अलभ्य है। जितने भी ग्वालबाल तथा बछड़े ब्रह्माजीने हरण किये थे, स्वयं श्रीभगवान्‌ने उतने ही अमायिक (मायारहित) रूप धारण कर लिये और नित्यका व्यवहार यथापूर्व चलता रहा। इस चरित्रकी सर्वोपरि विलक्षणता निम्नलिखित वचनसे सिद्ध होती है—

गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।२५)

गौओं और गोपियोंका क्रमशः बछड़े और गोपबालक बने हुए श्रीभगवान्‌के प्रति वात्सल्यभाव वैसा ही था जैसा अपनी असली सन्तानके प्रति था; केवल स्नेहकी वृद्धि पहले इतनी नहीं थी। इसी प्रकार श्रीभगवान्‌का भी उनमें मातृभाव वैसा ही था जैसा उनकी सन्तानका था; केवल उनके प्रति माया-मोह नहीं था। तात्पर्य यह है कि मायाका आवरण हट जानेसे शुद्धात्मा एकरूप रह गया, तब मायिक पुत्रोंकी अपेक्षा अमायिक पुत्रोंके प्रति स्नेह बढ़ना ही चाहिये था; इसी प्रकार भगवान्‌में मायाका अभाव होनेसे मायिक पुत्रोंकी जैसी ममता एवं आसक्ति अपनी माताओंके प्रति थी वैसी श्रीभगवान्‌की क्यों होने लगी। इस अमायिक रूपका एक और चमत्कार देखने योग्य है। एक दिन सारी गौएँ गोवर्द्धन पर्वतपर चर रही थीं। वहाँसे उन्हें व्रजके समीप बछड़े चरते दीख पड़े। उनको देखते ही वे स्नेहमें इतनी भूल गयीं कि दो-दो पैरोंको खड़ा करके, पूँछ उठाकर, थनोंसे दूध चुआती हुई वे इतने वेगसे दौड़ीं कि ग्वालोंके पूरी शक्तिसे रोकनेपर भी न रुकीं और तुरंत बछड़ोंके निकट पहुँच गयीं। और यद्यपि वे बछड़े पहली बियानके थे और नवजात बछड़े घरपर बँधे हुए थे, तो भी वे इनको

दूध पिलाने लगीं और ऐसे चाटने लगीं मानो प्रेमसे इनको निगल जायँगी। इन गायोंके रक्षक भी क्रोधमें भरकर लाठियाँ लिये इनके पीछे-पीछे दौड़े आये, परन्तु यहाँ आनेपर उनका भी क्रोध एवं उद्वेग युगपत् ठंडा हो गया; क्योंकि क्रोधादि विकार मायाके कार्य हैं और वहाँ मायाका सर्वथा अभाव था।

यहाँ इस प्रकार होते-होते एक वर्ष बीत गया। उधर ब्रह्माजीका यह क्षणमात्र ही था। ब्रह्माजी मोहवश यह निकृष्ट कर्म करके जब अपने लोकको लौटे तो वहाँ द्वार-पालोंके द्वारा इनका बड़ा अपमान हुआ; क्योंकि वहाँ तो ब्रह्मा पहले ही पहुँच चुके थे। और उन्होंने यह आज्ञा दे रक्खी थी कि यदि कोई कपटरूप ब्रह्मा आये तो उसे प्रवेश न करने देना। इस अपमानसे खिन्न ब्रह्माजी पुनः आकर देखते हैं तो पहलेके अनुसार ही वहाँ कौतूहल हो रहा था। यह देखकर ब्रह्माजीको बड़ा आश्चर्य हुआ; वे सोचने लगे कि बछड़ों तथा ग्वालबालोंको तो मैं चुराकर पर्वतकन्दरामें रख आया था, क्या ये वे ही हैं या दूसरे हैं। ऐसा संकल्प-विकल्प करते-करते ही वे सहसा क्या देखते हैं कि जितने ग्वालबाल तथा बछड़े वहाँ थे, वे सब-के-सब श्रीभगवद्रूप हो गये। निम्नलिखित वचनोंके द्वारा उन रूपोंके साक्षात् दर्शनका सौभाग्य प्राप्त किया जाय—

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः॥
आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥

(श्रीमद्भा० १० । १३ । ४६–५०)

इतनेहीमें ब्रह्माजीके देखते-देखते उसी क्षण ब्रह्माजीको सभी बछड़े और बालक मेघ-सरीखे श्याम और पीताम्बरधारी दीख पड़ने लगे। सबके चार-चार भुजाएँ थीं, हाथोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म लिये हुए थे तथा किरीट, कुण्डल, हार और वनमाला धारण किये थे। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न, भुजाओंमें बाजूबंद, हाथोंमें शङ्खकी-सी तीन धाराओंवाले रत्नमय कंगन, पैरोंमें नूपुर और कड़े, कमरमें करधनी तथा अँगुलियोंमें मुद्रिकाएँ शोभायमान थीं। चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त सारा शरीर पुण्यात्माओंके द्वारा पहनायी गयी नवीन कोमल तुलसीदलोंकी मालाओंसे सुशोभित था। चाँदनीके समान उज्ज्वल मन्द मुसकानसहित अरुण कटाक्षोंसे वे इस प्रकार देख रहे थे, मानो वे रजोगुण और सत्त्वगुणके द्वारा अपने जनोंके हृदयमें शुद्ध लालसाएँ जगाकर उन्हें पूर्ण कर रहे हों। केवल इस प्रकारके रूप ही हों, सो बात नहीं थी; प्रत्येक मूर्त्ति ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा सेवित समस्त विभूतियों, तत्त्वों और उपकरणादिसहित ब्रह्माण्डनायकके पूर्ण वैभव और ऐश्वर्यसे सम्पन्न थी। संख्या इनकी अल्प नहीं थी, किन्तु निम्नलिखित वचनसे सिद्ध होगा कि अकेले ग्वालबाल ही सहस्रों थे—

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः।

(श्रीमद्भा० १० । १२ । २)

जब ग्वालबालोंकी संख्या ही सहस्रों थी, तब बछड़ोंकी संख्या मिल जानेसे तो लक्षोंकी संख्या समझनी चाहिये।

जिसमें इतनी प्रबल शक्ति है वह जगत्के प्राणीमात्रमें ही नहीं, प्रत्येक परमाणुमें ऐसा रूप धारण कर सकता है। जिस समय श्रीभरतजी महाराज समस्त प्रजासहित चित्रकूट पधारे थे तथा उस अवसरपर भी जब कि श्रीमर्यादापुरुषोत्तम भगवान् लङ्कापर विजय प्राप्त करके श्रीअयोध्याजी लौटे थे, जितने पुरुषोंसे उन्हें मिलना था उतने ही रूप होकर वे एक क्षणमें सबसे मिल लिये थे। इसी प्रकार दण्डकवनमें खरदूषणका सेनासहित वध करनेमें भी जितने राक्षस थे, उतने ही रूप आपने धारण कर लिये थे। रासमें भी गोपियों-की संख्याके समान ही रूप धारण करके भगवान्ने लीला की थी तथा श्रीनारदजीको भी श्रीभगवान्के विचित्र ऐश्वर्यका उस समय अनुभव हुआ जब उन्हें यह सन्देह हुआ कि एक ही श्रीभगवान्ने सोलह हजार कन्याओंके साथ एक ही समय पृथक्-पृथक् प्रासादोंमें उद्वाह कैसे किया तथा अपने उस सन्देहकी निवृत्तिके लिये प्रत्येक प्रासादमें जाकर जब उन्होंने श्रीभगवान्को पृथक्-पृथक् रूपसे भिन्न-भिन्न चेष्टाओंमें प्रवृत्त देखा।

ये सब श्रीभगवान्की सगुणरूपसे व्यापकताके प्रमाणमें सामान्य उदाहरण नहीं हैं, परन्तु इस ब्रह्माजीके मोहवाली लीलाने तो इस व्यापकताको सिद्ध करनेमें किसी तर्कके लिये अवकाश ही न छोड़ा। अतः इस लीलाके द्वारा श्री-भगवान्के अवतार धारण करनेका प्रथम हेतु और

श्रीभगवान्‌की सगुणरूपसे व्यापकता मध्याह्नके सूर्यवत् प्रकाशित हो गयी; प्रत्युत यों कहना चाहिये कि यदि यह लीला न होती तो इन जटिल प्रसङ्गोंका समाधान ऐसा निःसन्देह नहीं हो सकता था, विशेषकर भूले-भटकोंके लिये तो पथप्रदर्शकता परम दुर्लभ थी। ऐसी दशामें इस लीलाको यदि दीपस्तम्भ कहा जाय तो क्या अत्युक्ति है।

अब रह गया श्रीभगवान्‌के अवतारका दूसरा हेतु—साधुओंकी रक्षा; इसमें पहले यह देखना चाहिये कि 'साधु' किसे कहते हैं। यह शब्द 'साध्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है संसिद्धि। इस शब्दके कोषमें अनेक अर्थ किये गये हैं, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'साध्नोति परकार्यमिति साधुः।' अर्थात् जो दूसरेका कार्य साधे, वह साधु है। दूसरेके कार्यसे तात्पर्य यहाँ परोपकारका है।

अब देखना चाहिये कि संसारमें मुख्य परोपकार क्या है। अपने-अपने विचार एवं श्रद्धाके अनुसार परोपकार-सम्बन्धी अनेक कार्य बताये जा सकते हैं; परन्तु सद्बुद्धिद्वारा ध्यानपूर्वक देखनेसे निश्चय हो जायगा कि श्रीभगवान्‌के सम्मुख करनेके लिये अथवा उनकी शरण ग्रहण करानेके निमित्त जो कोई भी उपदेश, शिक्षा, प्रेरणा अथवा मार्गदर्शिता की जाय, कैसे भी उदाहरण या आदर्श रक्खे जायँ, भय अथवा आतङ्क दिखाये जायँ या अन्य कोई भी यत्न किया जाय, इनसे बढ़कर और कोई परोपकारसम्बन्धी कार्य नहीं हो सकता।

इसका प्रथम ही उदाहरण श्रीभरतजी महाराजका है। श्रीभगवान्‌के वनको सिधारनेके पश्चात् ये जब चित्रकूट पधारे तो मार्गमें श्रीप्रयागराज पहुँचकर श्रीभरद्वाज मुनिके आश्रमपर विश्राम किया। वहाँ श्रीमुनिराजने श्रीभरतजी महाराजकी प्रशंसा करते हुए यह वचन कहा है—

> तुम्ह कहँ भरत कलंकु यह हम सब कहँ उपदेस।
> राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस॥

इसका तात्पर्य यह है कि अपनेको राज्य दिलानेके लिये माताके वर माँगनेपर श्रीभगवान्‌के वनको सिधारने और वहाँ अनेक कष्ट भोगनेकी घटनाको तथा राज्य करनेके लिये पिता-माता और गुरुकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेको श्रीभरतजी महाराज अपने लिये पूर्ण कलङ्क मान रहे थे; परन्तु यह कलङ्क ही सबके लिये उपदेश हो गया। पहला कलङ्क यदि न होता तो दूसरे कलङ्कके द्वारा उपदेश मिल सकनेका अवसर ही न आता। और इस दूसरे कलङ्कने तो प्रत्यक्ष कर दिया कि कैसा भी धर्म जो भागवत धर्ममें बाधा डालता हो—अवश्य त्याज्य है। मुख्य धर्म श्रीभगवान्‌की शरणागति वा प्रपत्ति ही है, और धर्म यदि उसके अनुकूल न हों तो वे कदापि पालनीय नहीं हैं। यही श्रीराम-भक्ति-रसकी सिद्धिका श्रीगणेश अर्थात् आरम्भ है और इस उपदेशके आचार्य श्रीभरतजी महाराज हैं, जिनके आदर्श आचरणको श्रीभरद्वाजजी-सरीखे मुनिने उपदेशरूपसे ग्रहण किया है।

अब देखना है कि ऐसे उपकार करनेवाले साधु कौन हैं, जिनके परित्राणार्थ श्रीभगवान् अवतार धारण करते हैं।

ऐसे साधुओंका एक मुख्य उदाहरण हैं—प्रातःस्मरणीया प्रेममूर्त्ति पुण्यकीर्त्ति लोकपूजिता पूर्णार्था महाभागा व्रजाङ्गनाएँ। इनकी महिमा वर्णन करनेकी किसमें सामर्थ्य है—जिनकी आत्मा श्रीभगवान्‌में लीन थी और जिनके विषयमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे उद्धवजीको सन्देश देकर व्रजमें भेजते हुए निम्नलिखित वचन कहे थे—

> ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
> .... ।
> ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
> मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
> स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
> धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
> प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥
> (श्रीमद्भा० १०। ४६। ४–६)

अर्थात् उन गोपियोंका मन मुझीमें है, मुझीमें उनके प्राण हैं, मेरे लिये उन्होंने समस्त देहके कार्य छोड़ दिये हैं। जिन्होंने मेरे लिये लोक तथा धर्मको छोड़ दिया है, उनका पालन-पोषण मैं ही करता हूँ। मैं उनका प्रियसे भी प्रिय हूँ, मेरे दूर होनेपर वे गोकुलकी स्त्रियाँ मुझे स्मरण करके मूर्छित हो जाती हैं और विरहकी उत्कण्ठासे विह्वल हो जाती हैं। प्रायः बड़ी कठिनतासे किसी प्रकार वे गोपियाँ अपने प्राणोंको धारण करती हैं और मुझमें प्राणोंको रखकर मेरे लौट आनेके सन्देशोंसे जीती हैं।

यों तो गोपियोंके साथ और भी अनेक लीलाएँ हुई हैं; परन्तु सबसे मुख्य रासक्रीड़ा है, जिसका पाँच अध्यायोंमें वर्णन होनेसे उन अध्यायोंको रासपञ्चाध्यायी कहते हैं। यह रासपञ्चाध्यायी क्या है, मानो पञ्चस्रोता प्रेम-सरिता है। शरत्पूर्णिमाकी रात्रिको,

जब कि निर्मल एवं चटकीली चाँदनी छिटक रही थी और दिव्य चमेली खिल रही थी, वनकी अपूर्व छटा देखकर श्रीभगवान्‌को रमण करनेकी इच्छा हुई और उस दिव्य इच्छासे प्रेरित होकर उन्होंने बाँसुरीकी अद्भुत तान छेड़ी। यद्यपि वह टेर सारे ब्रह्माण्डको गुँजा देनेवाली और समस्त लोकोंको मोहित करनेवाली थी, परन्तु उस क्षणमें उस विशेष ध्वनिकी पात्रा केवल ये व्रजललनाएँ ही थीं—जो सर्वस्व त्यागकर श्रीभगवान्‌की ही ओर अहर्निश लौ लगाये रहती थीं और जिनका हृदय उनके दर्शनकी उत्कण्ठासे कभी शून्य नहीं रहता था। उस सरस और मर्मभेदी स्वरके कानमें पड़ते ही उनकी क्या दशा हुई, इसका वर्णन बड़ा ही हृदयहारी है। वे सब अपने-परायेकी सारी सुध-बुध भूलकर सहसा उस दिशाको खिंची हुई चली गयीं, जिधरसे वह ध्वनि आयी थी! वहाँ पहुँचनेपर श्रीभगवान्‌के अलभ्य दर्शनोंके लाभसे इनकी सारी आधि-व्याधि निवृत्त होकर इन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ। दर्शनोंके अनन्तर श्रीभगवान्‌ने इनको इनके कर्त्तव्य तथा धर्मका उपदेश एवं शिक्षा देते हुए घर लौट जानेके लिये बड़ा अनुरोध किया, परन्तु उस उपदेश एवं शिक्षाका इनपर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। क्योंकि इन्होंने तो सब कुछ त्यागकर श्रीभगवान्‌की अमोघ शरण ग्रहण कर ली थी और उनके द्वारा किये गये उपदेशोंको ये अपनी अनन्यतामें बाधक समझती थीं। इस प्रकार उपदेश एवं शिक्षाकी उपेक्षाके साथ-साथ आज्ञाके उल्लङ्घनका अपराध उनसे और हुआ। परन्तु वह अपराध कैसा भी रहा हो, प्रपन्न पुरुषके लिये भागवतधर्म लौकिक और पारलौकिक समस्त धर्मोंके ऊपर है और जब ये अन्य धर्म उसके बाधक हों तब तो ये सभी त्याज्य हो जाते हैं। श्रीभगवान्‌के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस गीतोक्त महावाक्यका भी तो यही मुख्य आशय है, यद्यपि उसका कई प्रकारसे अर्थ किया जाता है।

श्रीपुण्यरूपा व्रजवल्लवियोंने अपने इस आदर्शसे सच्चे भागवतधर्मका उपदेश करके संसारका बहुत बड़ा उपकार किया; इसलिये इनसे बढ़कर साधु और कौन हो सकता है।

इनको एकमात्र श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्ति और मनोहर छबिके दर्शनकी और उनके साथ रमण करनेकी लालसा रहती थी। उसीकी पूर्त्तिके लिये यह रासक्रीड़ा हुई। श्रीभगवान्‌को अपने ऊपर इतना मुग्ध देखकर इनके हृदयोंमें अभिमानका अङ्कुर उत्पन्न हो गया! बस, फिर क्या था।

श्रीभगवान्‌का तो यह प्रण है कि वे अपने जनके हृदयमें अभिमानको जमने नहीं देते। वे तत्काल अन्तर्धान हो गये। उस अवसरके गोपियोंके विरहकी कथा अत्यन्त हृदयद्रावक है। उस तीव्र विरहसे वे विक्षिप्तकी-सी चेष्टाएँ करने लगीं और उनकी विह्वलता यहाँतक बढ़ गयी कि यदि श्रीभगवान्‌का उन्हें पुनः साक्षात्कार न होता तो उनकी प्राणरक्षा असम्भव थी। इसलिये भक्तवत्सलको अपने प्रपन्नकी रक्षाके निमित्त पुनः प्रकट होना पड़ा और उन्होंने उनकी विरह-व्यथाको तत्क्षण दूर करके रासक्रीड़ाके द्वारा उन्हें परम सुख दिया।

यह तो उस रासक्रीड़ाके अल्पकालका ही दृश्य है; किन्तु यदि श्रीभगवान्‌का अवतार ही न होता तो इनकी क्या दशा होती—इसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। एक उदाहरणसे यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी। श्रीउद्धवजीने गोपियोंको श्रीभगवान्‌का जो सन्देश सुनाया है, उसमें श्रीभगवान्‌का यह वचन है—

> या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
> अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया॥
> (श्रीमद्भा० १०। ४७। ३७)

हे कल्याणियो! इस व्रजमें रहते समय इस वनमें रातको जब मैंने रासक्रीड़ा की थी, तब जिन गोपियोंको उस रासक्रीड़ामें सम्मिलित होनेका अवसर न मिला था, वे मेरी लीलाओंका चिन्तन करके मुझे प्राप्त हो गयीं।

इससे प्रत्यक्ष है कि यद्यपि इन गोपियोंको इससे पूर्व अन्य अवसरोंपर श्रीभगवान्‌के दर्शन होते रहे थे, परन्तु इस एक रासक्रीड़ाके अवसरपर ही पति इत्यादिके द्वारा रोकी जानेपर रास-महोत्सवके सुख-लाभसे वञ्चित रहनेके कारण उनकी विरहाग्नि इतनी तीव्र हो गयी कि श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते-करते ही उनके प्राणोंका वियोग होकर वे भगवान्‌की शरणमें पहुँच गयीं। अब सोचा जाय कि यदि श्रीभगवान्‌का अभिमतफलदाता यह अनुपम अवतार न होता तो विरहाग्निकी तीव्रतम ज्वालासे सन्तप्त इन विपुल-संख्यक समस्त गोपियोंके लिये अपने-अपने हृदयको शीतल करनेके निमित्त इस प्रेमसरितामें सुहावन अवगाहनकी कहाँ सम्भावना थी, जिसके बिना इसी प्रकार रोते-कलपते इनके प्राणोंका भी परित्याग हो जाता। ये ही वे साधु हैं, जिनकी रक्षा भगवान्‌के अवतारके लिये दुष्टोंके विनाशकी अपेक्षा अधिक

प्रबल हेतु है। दोनों हेतुओंका मिलान करनेपर एक और रहस्यमय चमत्कारका अनुभव होगा। दुष्टोंका नाशरूप हेतु श्रीभगवान्के अवतारको आवश्यकीय एवं अनिवार्य नहीं करता; क्योंकि जिनके भ्रूविलासमात्रसे असंख्य ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति और लय होता है, उनके लिये दुष्कृतियोंका विनाश किस गिनतीमें है। वह किसी भी साधनद्वारा कराया जा सकता है। अतः दुष्टोंका विनाश तो वस्तुतः गौण हेतु है; मुख्य हेतु तो श्रीगोपीजन, शबरी, शरभङ्गजी, सुतीक्ष्णजी आदि-जैसे साधुओंकी रक्षा ही है। क्योंकि उनकी कामना केवल श्रीभगवान्के दर्शन अथवा उनके साथ रमण आदि करनेकी होती है, जिसकी पूर्त्ति एकमात्र श्रीभगवान्का साक्षात्कार होनेसे ही हो सकती है और जिसके पूर्ण हुए बिना विरहाग्निकी ज्वालाके तीव्र उत्तापसे उनकी रक्षा असम्भव होती है।

इसके सिवा दुष्टोंके विनाशके लिये जो चेष्टाएँ होती हैं, उन सबमें वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स आदि राजसी एवं तामसी रसोंकी प्रधानता रहती है; किन्तु साधुओंकी रक्षाके लिये होनेवाले अवतारमें सत्त्वगुणप्रधान शान्त एवं वात्सल्य रसोंका श्रृङ्गाररसके साथ अद्भुत सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार जो तीन प्रश्न उठे थे, उनका समाधान तो यहाँ समाप्त हो चुका; परन्तु इन पुण्यचरित्रा गोपियोंके विषयमें दो शब्द और कहनेकी आवश्यकता है।

यों तो श्रीभगवान्की अन्य लीलाओंपर भी आक्षेप होते हैं, परन्तु गोपियोंके साथ रमण करनेकी लीला तो आक्षेपोंका मुख्य निशाना बनी हुई है। वस्तुतः रजोगुणी एवं तमोगुणी चित्तोंको तो इस लीलाका स्पर्शतक न होना चाहिये, परन्तु सत्त्वगुणी चित्तोंमें भी भ्रान्तिके मेघ उमड़ आते हैं; अतः इस कराल कालमें ऐसे आक्षेप उठें, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है। इन गोपियोंका चरित्र कैसा है, इसकी श्रीभगवान्के उपर्युक्त वचनोंमें ही झाँकी करनी चाहिये। उन श्लोकोंमें कहे हुए लक्षणोंमेंसे एक-एकका भी महान् योगिराजोंमें मिलना कठिन है, देवता और मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। फिर जिनमें वे सब-के-सब युगपत् प्राप्त हों, उनकी किस कक्षामें गिनती की जाय—समझमें नहीं आता। विचारसे विदित होगा कि जिसको इनमेंसे एक भी लक्षण प्राप्त है, वह परम सिद्ध है। वह तो मानो ज्ञान, योग, उपासना, कर्म तथा प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँच चुका; उसके लिये कुछ भी साधन वा कर्म शेष नहीं रहता। फिर इन सौभाग्यवतियोंको तो इतने लक्षण युगपत् प्राप्त हैं, जिनकी पृथक्-पृथक् महत्ता नीचे दिखलायी जाती है—

१—मन्मनस्काः (मनका मुझीमें रहना)। २—मत्प्राणाः (प्राणोंका मुझीमें समाया रहना)।	ज्ञान एवं योगकी पराकाष्ठा
३—मदर्थे त्यक्तदैहिकाः (मेरे लिये जिन्होंने देहके सभी व्यवहार छोड़ दिये हैं)।	उपासनाकी पराकाष्ठा
४—मदर्थे त्यक्तलोकधर्माः (मेरे लिये जिन्होंने लोक तथा धर्मको छोड़ दिया है)।	कर्मकी पराकाष्ठा
५—दूरस्थे मयि विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः स्मरन्त्यः विमुह्यन्ति (मेरे दूर होनेपर मुझे स्मरण करके मूर्च्छित हो जाती हैं तथा मेरे विरहकी उत्कण्ठासे अत्यन्त विह्वल रहती हैं)। ६—प्रत्यागमनसन्देशैः कथञ्चन कृच्छ्रेण प्राणान् धारयन्ति (मेरे लौट आनेके सन्देशोंसे किसी प्रकार कठिनतासे प्राणोंको धारण करती हैं)।	प्रेमकी पराकाष्ठा

श्रीउद्धवजीके हृदयपर इन वचनोंके भाव दृढ़तासे अङ्कित हो गये, और वृन्दावन पहुँचनेपर तो उन्होंने उनका साक्षात् अनुभव भी कर लिया। बस, इनके द्वारा प्रभावित होकर उद्धवजीने तो उन गोपियोंको एक प्रकारसे अपना आराध्यदेव ही समझ लिया और बड़े प्रेम एवं अनुरागसे उनकी स्तुति की, जिसका निम्नलिखित एक ही वचनसे दिग्दर्शन कराया जाता है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

अहो! इन गोपियोंके चरण-रजका सेवन करनेवाली लता, गुल्म एवं ओषधियोंमें मैं भी कोई हो जाऊँ—जिन गोपियोंने कठिनतासे छोड़े जाने योग्य अपने बन्धु तथा श्रेष्ठ

मार्गको भी छोड़कर सब श्रुतियाँ जिसको ढूँढ़ रही हैं, ऐसी श्रीमुकुन्दभगवान्‌की पदवीको ग्रहण किया है।

तनिक ध्यान देना चाहिये—कहाँ तो ऐसे प्ररूढ़ भक्ति-भावोंके उद्गार और कहाँ उन्हीं उद्धवजीके मुखसे उसी स्तुतिके क्रममें ये शब्द निकले—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
(श्रीमद्भा० १०।४७।५९)

कहाँ ये जंगलकी रहनेवाली व्यभिचारसे दूषित स्त्रियाँ और कहाँ श्रीकृष्णभगवान्‌में इनका ऐसा दृढ़ भाव!

इतना ही नहीं, स्वयं श्रीशुकदेवजी महाराजने रास-पञ्चाध्यायीके प्रथम अध्यायमें उन गोपियोंका वर्णन करते हुए जिनको रासमें जानेसे घरवालोंने रोक लिया था और जिनका वर्णन इस लेखमें उद्धवजीके द्वारा गोपियोंको भेजे हुए श्रीभगवान्‌के सन्देशमें ऊपर आ चुका है, ये वचन कहे हैं—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।११)

तत्काल बन्धनोंके टूट जानेसे जारबुद्धिद्वारा भी उसी परमात्माको प्राप्त होकर वे अपने प्राकृत देहोंसे वियुक्त हो गयीं।

जब कि श्रीशुकदेव मुनि-जैसे त्रिकालदर्शी तपोनिष्ठ ज्ञानी महात्माके मुखसे भी उनके विषयमें 'जारबुद्धि' शब्द-का प्रयोग हो गया तो उद्धवजी यदि उन्हें 'व्यभिचारदुष्ट' कह दें तो क्या विस्मय है।

जिन शुकदेवजी महाराजके वचनोंसे ही यह प्रकट हुआ कि उनका भगवत्-चरणारविन्दमें प्रेम, भक्ति और अनुराग इतनी पराकाष्ठाको पहुँच चुके थे कि इनके प्रभावसे उनका मायामय शरीर छूटकर वे सब बन्धनोंसे मुक्त हो गयीं, उन्हींके मुखसे गोपियोंके लिये ऐसे गर्हित शब्दोंका प्रयोग हो—इसका विशेष आशय समझनेमें बुद्धि काम नहीं देती।

पूज्य विद्वान् एवं महात्माओंने अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार इनके समाधान किये हैं, परन्तु उन सब समाधानोंसे सन्तोष नहीं होता। वस्तुतः यह सब भगवत्-प्रेरणा थी, जिसके रहस्य एवं मर्मको स्वयं भगवान्‌के अति-रिक्त दूसरा कौन जाननेमें समर्थ है। हम यह समझकर ही क्यों न सन्तोष कर लें कि श्रीभगवान्‌की अपनी इन परम प्रेयसियोंके चरित्रको गुप्त रखवानेकी इच्छा थी, इसीलिये उसपर यह पर्दा डलवा दिया गया, अथवा दुष्टदृष्टिपातसे रक्षाके लिये यह श्याम चिह्न (डिठौना) लगवाकर उसे पूर्ण रहस्यमय बना दिया गया।

'जारबुद्धि' शब्दको सुनते ही महाराज परीक्षित्‌का हृदय भी सन्देहरूपी अन्धकारसे आक्रान्त हो गया और वे चट प्रश्न कर ही तो बैठे—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।१२)

मुनिवर! वे गोपिकाएँ तो श्रीभगवान्‌को अपने प्यारे कमनीय पतिके रूपमें ही मानती थीं, कुछ ब्रह्मस्वरूप तो मानती न थीं; तब फिर गुणमय बुद्धिवाली उन गोपियोंका गुणोंके प्रवाहसे उपराम कैसे हुआ? आगे राससमाप्तिपर भी पुनः इससे भी अधिक मोहबुद्धिपूर्वक प्रश्न किया गया है—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥
(श्रीमद्भा० १०।३३।२७-२९)

समस्त जगत्‌के ईश्वर श्रीभगवान्‌ने श्रीबलदेवजीसहित धर्मके स्थापन तथा अधर्मों (पापों) के नाशके लिये अवतार लिया था। वे सब धर्मोंके सेतुरूप वेदादिकोंके निर्माता, वक्ता एवं रक्षक हैं। फिर उन्होंने परस्त्रीका सङ्गरूप ऐसा विपरीत कर्म कैसे किया? यदुपति भगवान् सब मनोरथोंसे पूर्ण हैं; तो भी उन्होंने जो ऐसा निन्दित कर्म किया, इसका क्या अभिप्राय है? हमारे इस संशयका आप छेदन कीजिये।

इन प्रश्नोंके पूर्ण मार्मिक एवं हेतुगर्भित समाधान किये गये हैं, परन्तु उनका यहाँ उल्लेख कर लेखको विस्तार देनेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो केवल इन प्रश्नोंको ही अविकल रूपसे उद्धृत कर यह दिखलाना था कि महाराज परीक्षित् यद्यपि भगवद्भक्त एवं श्रद्धासम्पन्न थे और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे ज्ञानमूर्त्ति, अगाधबोध, तपोनिष्ठ एवं भगवत्स्वरूपलीन श्रीशुकदेवजी महाराजसे उसी समय पवित्र कथारूपी अमृतका पान कर रहे थे; तथापि उनकी बुद्धिमें भी अभी मोह शेष था, जिसके कारण उनकी दृष्टि उस वचनके 'जारबुद्धि' शब्दपर तो तत्काल पहुँच गयी, किन्तु उसका दूसरा चरण उन्होंने उपेक्षापूर्वक सुना—यद्यपि वही इस सम्पूर्ण लीला एवं चरित्रका मर्मस्थल है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि उनके प्राकृत देह छूट गये। गम्भीर विचारकी यही तो बात है कि इस प्रकार श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते-करते तत्क्षण प्राकृत देह छूट जाना बड़े-बड़े योगिराजोंके लिये भी दुर्लभ है; वह इन गोपियोंको भला, सहजमें ही कैसे सुलभ हो जाता यदि इनकी बुद्धियाँ विकृत होतीं।

यहाँपर यह कहा जा सकता है कि यह तो उन गोपियोंकी दशाका वर्णन है, जो अपने-अपने स्थानोंपर रह गयी थीं; किन्तु जो रासमें गयीं, उनका तो प्राकृत देह नहीं छूटा। यह भी पूर्वापरके विचारसे रहित भ्रान्तिमूलक सन्देह है। वस्तुतः प्राकृत देह दोनोंके अपने-अपने स्थानपर ही रह गये। अन्तर यह हुआ कि रासमें न जानेवाली गोपियोंके देहोंसे प्राणोंका वियोग हो गया और उनकी आत्मा श्रीभगवान्‌की शरणमें प्राप्त हुई और रासमें जानेवाली गोपियोंके सप्राण प्राकृत देह घरपर रहे और अमायिक देहोंके द्वारा वे श्रीरासविहारीके दर्शनार्थ वनमें पहुँचीं। जिस प्रकार ब्रह्माजीको मोह होनेपर अमायिक ग्वालबाल एवं बछड़े प्रकट हो गये, वैसे ही अमायिक देहोंसे इनको भी रासका सौभाग्य प्राप्त हुआ। नीचे लिखे प्रमाणसे यह घटना सिद्ध होती है—

> नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
> मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३८)

व्रजवासियोंने श्रीभगवान्‌की मायासे मोहित होकर अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपने ही पासमें जाना और श्रीभगवान्‌की निन्दा नहीं की।

इस वचनका आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इनके दो स्वरूप हो गये—एक मायिक (भौतिक), जो घरपर रहा और दूसरा अमायिक (दिव्य), जो भगवान्‌की पवित्र शरणमें चला गया और जिसे भौतिक बुद्धिवाले उनके पति अपनी चर्मचक्षुओंसे न देख सके। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि जो गोपियाँ घरोंमें रोक ली गयीं, उनके साथ भी ऐसा ही क्यों न हुआ। अर्थात् प्राकृत देहकी प्रतिबन्धकता होनेपर अमायिक देहसे इनको भी रासका सुख मिलना चाहिये था। इसका उत्तर यह है कि यह वस्तुतः भावोंकी परीक्षाका समय था और शरणागति अथवा प्रपत्तिमें इन्हींकी तो प्रधानता है। अपनी सद्गतिका मार्ग ढूँढ़नेकी प्रत्येक प्राणीको स्वतन्त्रता है। वह स्वयं अपनी बुद्धिका उपयोग करके अपने कल्याणार्थ जो उचित मार्ग समझे, उसीका अवलम्बन कर सकता है। प्रत्येककी श्रद्धा और विश्वासके अनुसार ही परिणाम होता है और इनकी न्यूनाधिक मात्रा देखकर उसीके अनुसार श्रीभगवान् उसे अपनाते हैं, जैसा कि श्रीगीताजीका वचन है—

> 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

इसी तारतम्यसे गोपियोंका प्रेमभाव देखा गया—रासके सुखसे वञ्चित होनेवाली गोपियोंकी भाव-तीव्रता उतनी नहीं थी।

गोपियोंके चरित्रका यह निर्णय प्रमाणोंके आधारपर है, अतएव आशा है इसमें सन्देहके लिये छिद्र नहीं मिलेगा। किन्तु पूर्वापरका विचार किये बिना यदि दुराग्रहपूर्वक अब भी कोई यही कहे कि रासमें जानेवाली गोपियाँ भौतिक शरीरसे ही गयीं और उनके पतियोंको मायामोहित होनेके कारण उनका वियोग प्रतीत न हुआ, तो ऐसा भी माना जा सकता है; क्योंकि भगवान्‌के लिये अघटित कुछ भी नहीं है। तभी तो श्रीभगवान्‌की शक्तिको 'अघटितघटनापटीयसी' कहा जाता है। परन्तु इसके साथ ही इस वचनको दृष्टिमें रखना आवश्यक है—

> 'भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।'

अर्थात् भुने हुए और उबाले हुए अनाजके दाने बीजके योग्य नहीं होते अर्थात् बोनेपर उगते नहीं।

इन महाभागाओंके हृदयमें मधुर मूर्त्तिका निवास था,

जिसके कारण उनके पुण्य-पापसम्बन्धी सारे संस्कार नष्ट हो चुके थे; अतएव उनके चित्तोंमें विकार उठ ही नहीं सकते थे।

यदि इनके हृदयोंको भी विकारी ही माना जायगा, तो इनमें और कंसकी दासी सैरन्ध्री (कुब्जा) में—जिसको श्रीशुकदेव मुनिने दुर्भगा एवं कुमनीषी (दुर्बुद्धि) कहा है—अन्तर ही क्या रहा। इनकी कथा तो लोकोत्तर है; परन्तु वहाँ तो परम दुष्ट भी यदि अनन्य हो जाय तो साधु माना जाता है, जैसा कि श्रीगीताजीके इस महावाक्यसे स्पष्ट है—

> अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> (९। ३०)

ऊपर जो कुछ निरूपण किया गया है, उसके मुख्य-मुख्य विषय ऐसे हैं जो बुद्धिके द्वारा अगम्य हैं, जो केवल श्रद्धा और विश्वासके मूलपर ही ठहर सकते हैं और जिनको विज्ञान अथवा तर्ककी कसौटीपर कसना सर्वथा अपने विचार एवं बोधका दिवाला निकालना है; फिर भी वे सब कथाओंके आधारपर स्थित हैं अर्थात् शब्दयोजनाके घेरेके भीतर हैं। परन्तु यह व्रजलीला न तो वाणीका विषय है और न मनका। बड़े-बड़े योगिराज भी इसके रहस्यका स्पर्शतक नहीं कर सकते।

इस लीलाकी गुह्य-से-गुह्य बात यह है कि इस समस्त व्रजवधू-समाजकी अधिष्ठात्री श्रीव्रजेश्वरी श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीरासेश्वरी श्रीकृष्णवल्लभा राधिका माताजी हैं, जिनका शुभ नाम किसी विशेष हेतुसे बहुमूल्य रत्नकी भाँति श्रीमद्भागवतमें गुप्त रक्खा गया है किन्तु जिनका लक्ष्य उस एक गोपीकी कथा कहकर कराया गया है, जो गोपियोंके मानके समय श्रीभगवान्के अन्तर्धान होनेपर उनके साथ रही। ये श्रीभगवान्की महाशक्ति हैं, जिनसे संसारकी समस्त शक्तियों-की उत्पत्ति होती है और जिनकी शक्तिमान् भगवान्के साथ सदैव अभिन्नता रहती है। किन्तु जब श्रीभगवान् पूर्ण वात्सल्यभावसे अपने सन्तप्तहृदय जनोंको प्रेम-सरितामें अवगाहन करानेकी कृपा करते हैं, तब शक्ति और शक्ति-मान् दो देह एवं एक प्राणके रूपमें प्रकट होकर इस प्रकार-की प्रेम-लपेटी लीलाकी योजना करते हैं।

अवतार धारण करनेसे ऐसे साधुओंकी, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, रक्षा तो होती ही है; साथ ही साहित्य एवं काव्यकी दृष्टिसे भी इस प्रकारकी लीलाके द्वारा एक गम्भीर आदर्श उपस्थित होता है। यह वही लीला है, जिससे 'रसो वै सः' श्रुति पूर्णतया चरितार्थ होती है, और जहाँ अन्य रसोंके साक्षात् उदाहरणके लिये अनेक चरित्र एवं लीलाएँ हैं, वहाँ यदि यह रहस्यपूर्ण लीला न होती तो शृङ्गार-रसके उदाहरणका सर्वथा अभाव रहता। यही नहीं, श्रीभगवान्के अवतारकी परिपूर्णतामें भी यह एक न्यूनता ही रहती। शृङ्गार-रसका स्थायी भाव रति है, इसे उदाहरणद्वारा प्रदर्शित करनेकी पूर्ण आवश्यकता थी। तथा इस स्थायी भावके आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी भावोंका प्रत्यक्षीकरण भी इस लीलाकी साङ्गोपाङ्ग प्रपूर्त्तिसे ही हो सकता था। मायाप्रधान सृष्टिमें रतिरूप स्थायी भाव अनङ्गावलम्बित है, अतः वह धर्मकी वेदीपर नहीं ठहर सकता और भगवान्ने स्पष्ट आज्ञा की है—'धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि।' ऐसी दशामें धर्मके अविरुद्ध शृङ्गार-रसका उदाहरण और प्रकारसे सिद्ध हो ही नहीं सकता था, यदि लीला अमायिक रूपसे न की जाती। श्रीजयदेवजी महाराज-के गीतगोविन्दका भी, जो आक्षेपोंका लक्ष्य बना हुआ है, यही तत्त्व है।

अगाध समुद्रकी थाह भले ही ली जा सके, परन्तु इस प्रेम-सरिताकी थाह लेनेका प्रयास करना अपने जीवनको नष्ट करना है। भला, कहीं अनिर्वचनीय विषय वाणीके वृत्तमें आ सकता है। केवल भगवत्-प्रेरणासे भावोंका यह प्रकटीकरण हुआ है। इसके अधिकारी न तो वे पुरुष हैं जो अश्रद्धालु अथवा संशय-सन्देह-ग्रस्त हैं, और न वे हैं जिन्होंने भगवत्-भागवत-विषयको समालोचना, तर्क एवं आक्षेपोंका लक्ष्य बना रक्खा है; किन्तु इसकी सृष्टि केवल हरियशप्रेमी युगललीलारसिक भगवत्-भागवत-चरणानुरागी सज्जनोंके सुख एवं आनन्द-लाभार्थ ही हुई है। अतः यदि हो सके तो श्रद्धापूर्वक इस प्रेम-सरितामें गोता लगाकर, अथवा यह न हो सके तो स्पर्श ही करके या केवल दर्शनमात्रके द्वारा ही अपना कल्याण किया जाय।

श्रीमद्भागवतका 'गीताष्टक' और 'गीतपञ्चक'

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी दाधीच, बी० ए०)

(१)

गीताष्टक

श्रीमद्भागवत एक वरदायी ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके तत्त्व कूट-कूटकर भरे हैं। जैसे यह भक्तिरससे ओतप्रोत है वैसे ही ज्ञानका भी अक्षय भंडार है। इसीलिये हजारों मनुष्य इसका नित्य नियमपूर्वक पाठ करते हैं, अनुष्ठान करते हैं, सप्ताह श्रवण करते हैं—जिनसे उनको मनचाही सिद्धि मिलती है। जैसे भक्ति-रसका वर्णन भागवतके 'गीतपञ्चक'में किया गया है वैसे ही ज्ञानका अलभ्य उपदेश इसकी आठ गीताओंमें किया गया है, जिनका वर्णन नीचे किया जाता है—

१. कपिलगीता	स्कन्ध	३	अध्याय	२५–३३
२. गर्भगीता	,,	३	,,	३१
३. परमहंसगीता	,,	७	,,	१३
४. उद्धवगीता	,,	११	,,	६–२९
५. अवधूतगीता	,,	११	,,	७–९
६. हंसगीता	,,	११	,,	१३
७. भिक्षुगीता	,,	११	,,	२३
८. ऐलगीता	,,	११	,,	२६

यदि गर्भगीताको कपिलगीताके अन्तर्गत और अवधूत-गीता, हंसगीता, भिक्षुगीता और ऐलगीताको उद्धवगीताके अन्तर्गत माना जाय तो शेष कपिलगीता, परमहंसगीता और उद्धवगीता—ये तीन गीताएँ ही शेष रह जाती हैं। किन्तु इन आठों गीताओंका ज्ञान पृथक्-पृथक् प्रकारका है, जिसके कारण गीताष्टकका वर्णन किया गया है। इनमेंसे—

१. कपिलगीता—

—में तो हरिभगवान्के अवतार, सांख्यदर्शनके प्रणेता श्रीकपिलदेवजीने अपनी माता देवहूतिको ज्ञानका उपदेश दिया है। इसमें तत्त्वोंके ज्ञानके साथ भक्तिका भी वर्णन किया गया है। यह गीता प्रसिद्ध है।

२. गर्भगीता—

—में गर्भगत जीवने गर्भकी असह्य यन्त्रणाओंसे पीड़ित और व्याकुल होकर परमात्माकी स्तुति की है और उस दुःखसे छुटकारा पानेपर भगवान्का भजन करनेकी प्रतिज्ञा की है।

३. परमहंसगीता—

—में सह्यपर्वतपर कावेरी नदीके किनारे पृथ्वीपर अजगरवृत्तिसे पड़े हुए किसी एक मुनिने, दैत्यराज प्रह्लादके प्रश्न करनेपर, परमहंस पुरुषोंके धर्मका वर्णन किया है—जिसमें मधुमक्षिकासे वैराग्य और सन्तोषकी शिक्षा ग्रहण करनेका और अजगरसे दैववश जो कुछ मिल जाय, उससे सन्तुष्ट रहनेकी शिक्षा लेनेका उपदेश दिया है।

४. उद्धवगीता—

—में श्रीकृष्णभगवान्ने अपने प्रिय सखा और सेवक उद्धवजीको जो ज्ञान दिया है, उसका वर्णन है। यह उपदेश उसी प्रकार उपादेय है, जैसा श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनके मिषसे दिया हुआ सार्वजनिक ज्ञानोपदेश है। यह गीता भी प्रसिद्ध है।

५. अवधूतगीता—

—में यदु राजाके पूछनेपर एक अवधूतने अपने चौबीस गुरु करनेका वृत्तान्त कहकर उनसे प्रत्येकसे पृथक्-पृथक् प्रकारकी शिक्षा ग्रहण करनेका वर्णन किया है, जो मनुष्यमात्रके लिये मननीय है।

६. हंसगीता—

—में सनकादिक मुनियोंने अपने पिता ब्रह्माजीसे यह प्रश्न किया था कि 'मनुष्यका चित्त अपने-आप विषयोंकी ओर जाता है और विषयोंकी वासनाएँ चित्तमें

रहती हैं, तो फिर मोक्षकी इच्छावाला पुरुष इन दोनोंका पार्थक्य कैसे कर सकता है ?' इस प्रश्नका उत्तर न आनेपर ब्रह्माजीने भगवान्‌का ध्यान किया। तब भगवान्‌ने हंसका स्वरूप धारण कर उस प्रश्नका जो उत्तर दिया है, वह 'हंसगीता'के नामसे प्रख्यात है। उत्तरका सारांश यह है कि विषय और चित्त दोनों ही भगवान्‌के स्वरूपभूत जीवकी उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोंका परित्याग कर देना चाहिये। केवल आत्मामात्र सत्य है, बाकी सब मिथ्या है। पूरा उत्तर उसी गीतामें देख लिया जाय।

७. ऐलगीता–

–में महायशस्वी, राजराजेश्वर, इलाके पुत्र महाराज पुरूरवाने उर्वशी अप्सराके विरहसे मोहित होकर अपनेको छोड़कर जाती हुई उस अप्सराके पीछे नंगे बदन दौड़ते हुए उससे यह कहा था कि 'अरी कठोर हृदयवाली कामिनि ! ठहर जा।' किन्तु वह न ठहरी—जिससे उस राजाको, भोगोंसे अतृप्त रहनेके कारण, वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने जो पश्चात्ताप किया है उसका इसमें वर्णन है। इलाका पुत्र होनेसे पुरूरवाका ही दूसरा नाम ऐल है, जिससे इसे 'ऐलगीता' कहते हैं।

८. भिक्षुगीता–

–में एक कदर्य (कंजूस) ब्राह्मणका वर्णन है। पुराने समयमें महापवित्र सात पुरियोंमें गण्यमान अवन्ती (उज्जैन) पुरीमें एक बड़ा धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। उसने व्यापार-व्यवसायद्वारा द्रव्य एकत्र किया था, जिसका वह कभी सदुपयोग न करता था। न तो वह कभी धनका दान करता और न कभी स्वयं उसका उपभोग करता था, किन्तु कंजूस-की तरह रहता था। उसने कभी न तो कोई धर्म-कर्म किये, न भाई-बन्धुओंका सम्मान किया, न घरके लोगोंको प्रसन्न रक्खा, किन्तु केवल यक्षके समान धनकी रखवालीमात्र करता। वह अत्यन्त अधिक कृपण था, जिसके कारण वह धनसे बड़ा प्यार करता था और 'मोय भजाऊँ पर तोय न भजाऊँ' वाली लोकोक्तिको चरितार्थ करता था। सबका समय एक-सा नहीं रहता। उसके दिन पलट गये, जिससे उसके पूर्वपुण्य क्षीण हो गये और अत्यन्त कष्टके साथ उपार्जित और परिश्रमसे सञ्चित धनका धीरे-धीरे नाश होने लगा। 'कीड़ी संचे तीतर खाय, पापीका धन पर ले जाय' वाली कहावतके अनुसार उसका धन चला गया। उसका कुछ द्रव्य तो उसके कुटुम्बियोंने ले लिया, कुछ चोर चुरा ले गये, कुछ राजाने छीन लिया, कुछ दैव और कालसे नष्ट हो गया। इस प्रकार सब धनके नष्ट हो जानेसे धर्म और भोगसे रहित, अपने बान्धवोंसे अपमानित, राजा, चोर आदिसे वञ्चित उस ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ। धनक्षयके सन्ताप तथा खेदके मारे वह फूट-फूटकर रोने लगा, किन्तु अपने वशकी बात न होनेके कारण वह जलने लगा। निदान उसके मनमें एक प्रकार-का वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने जो सारपूर्ण उपदेश दिया है, वह 'भिक्षुगीता' के नामसे कहा जाता है। यह उपदेश उपादेय और मननीय है, जिसे इसी पुस्तकमें देखकर लाभ उठाना चाहिये।

(२)

गीतपञ्चक

दशम स्कन्धमें लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णभगवान्‌की अनुपम अमृततुल्य कथाका वर्णन है, जिसके आस्वादनसे भगवद्भक्तोंके हृदयमें भक्तिका स्रोत बहने लगता है। उसमें भक्तिरससे ओतप्रोत प्रसिद्ध पाँच गीत हैं—जिनमेंसे सदा श्रीकृष्णप्रेममें पगी भक्तशिरोमणि गोपियोंके गाये हुए चार, और भगवान्‌की पटरानियोंका गाया हुआ एक गीत है। यथा—

१. वेणुगीत

एक समय शरद् ऋतुके आनेपर सकल व्रजवासी

गोप-गोपियोंके प्रेमाधार श्रीकृष्णभगवान् अपनी गौओं और गोपालोंके साथ वृन्दावन पधारे और अपनी सर्व-जनमनमोहिनी मधुर अमृतरसभरी वंशीकी टेर अलापने लगे। यह भगवान्की ओरसे रास-लीलाका आह्वान था। जब व्रजमें बैठी गोपियोंने इस दिव्य मधुर ध्वनि-को सुना तो वे उसकी परस्पर प्रशंसा करने लगीं, जिसे 'वेणुगीत' कहते हैं। उस समयके श्रीकृष्ण-भगवान्के दिव्य विग्रहके वर्णनका यह श्लोक है—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

श्रीकृष्णभगवान्का शरीर एक सुन्दर नटके शरीरके समान शोभा दे रहा है। मस्तकपर मोरमुकुट धारण किया हुआ है, कानोंमें कनेरके पुष्प शोभा दे रहे हैं, सुवर्णके समान चमकता हुआ पीला पीताम्बर पहने हैं, गलेमें वैजयन्ती माला शोभा दे रही है, गोपालगण आपका यशोगान कर रहे हैं और आप अधरामृतसे वंशीके छेदोंको मधुर सुरीली ध्वनिसे भरकर मनहर गान करते हुए अपने चरण-चिह्नोंसे पवित्र और मनहर वृन्दावनमें प्रवेश करते हैं। इस गीतका रसास्वादन मूल ग्रन्थके पठनसे हो सकता है जो भागवताङ्कके पृष्ठ ७१६—७१८ में देख लिया जाय।

२. गोपीगीत

श्रीकृष्णभगवान्ने जब अपनी मोहिनी मुरलीकी मनोहर राग अलापी तब उसे सुनकर सब गोपियाँ रात्रिके समय जिस अवस्थामें बैठी थीं उसी दशामें, अपना-अपना काम अधूरा छोड़, दौड़कर भगवान्के पास वृन्दावनके सघन वनमें जा पहुँचीं। तब भगवान्ने उनका स्वागत कर उनके आनेका कारण पूछा और उनको वैसा ही उपदेश दिया, जैसा पतिव्रता सती स्त्रियोंको देना चाहिये और उनको पति-सेवा, पुत्र-पालन आदिके लिये वापस चली जानेका आदेश दिया।

भगवान्का यह अप्रिय वचन सुनकर सब गोपियाँ अपने मनमें उदास हुईं और अपनी चिरपालित आशा-पर पानी फिरनेके कारण उन्हें चिन्ता हुई। अन्तमें आँसुओंको पोंछ, गद्गद स्वरसे, प्रणय-कोपमें भरकर, गोपियोंने यह प्रत्युत्तर दिया कि "हे भगवन्! आपको ऐसा कठोर वचन कहना शोभा नहीं देता। हम अपने सब विषयोंको छोड़ आपके चरण-कमलकी चेरियाँ बननेके लिये आयी हैं। इसलिये हे विभो! जैसे हरि-भगवान् मुमुक्षु भक्तोंको स्वीकार करते हैं, वैसे आप भी हमको अङ्गीकार करें और हमें न छोड़ें। आपने जो फरमाया कि 'वापस व्रजको चली जाओ' सो तो अब बन नहीं सकता; क्योंकि आपने हमारा मन चुरा लिया, जिससे वह अब घरके काम-काजमें नहीं लगता। हमारे हाथ बेकार हो गये हैं और हमारे पैर आपको छोड़कर एक कदम भी पीछे हटना नहीं चाहते। ऐसी दशामें हम व्रजको कैसे जायँ और अगर जायँ भी तो वहाँ जाकर करें क्या?"

व्रजाङ्गनाओंके दीनताभरे ऐसे व्याकुल वचन सुन-कर सबके अन्तर्यामी श्रीकृष्णभगवान्ने रास-महोत्सव आरम्भ किया। तब वाद्य, गान, नाच आदिसे अपूर्व आनन्द होने लगा, जिससे गोपियोंको गर्व हुआ कि वे ही समस्त स्त्री-समाजमें सर्वश्रेष्ठ हैं। सर्वगर्व-हारी भगवान् यह जान अन्तर्धान हो गये, जिससे उन गोपियोंको बड़ा दुःख हुआ और वे अत्यन्त व्याकुल होकर भगवान्को ढूँढ़नेके लिये वन-वनमें घूमने लगीं। चन्द्रदेवके अस्त होनेपर वे सब पीछे यमुनाजीके तटपर आयीं और भगवान्का गुण-गान करने लगीं, जिसे 'गोपीगीत' कहते हैं। यह गीत सब गीतोंमें उत्तम है, प्रेमरससे सराबोर है, हारमोनियम, तबला, ढोलक आदि वाद्योंपर गाया जाता है और अपूर्व मधुर आनन्दका उत्पादक है। यह गीत भागवताङ्कके पृष्ठ ७३४—४४ पर छपा है, जिसका अवलोकन और आस्वादन करनेका सर्व पाठकोंसे अनुरोध किया जाता है।

३. युगलगीत

पुनः भगवान् अत्यन्त कमनीय स्वरूपमें प्रकट होते हैं और रास-महोत्सवकी अलौकिक और दिव्य लीला करते हैं, जिसे देख देवता अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ आश्चर्यचकित और मोहित हो जाते हैं। उन श्रीकृष्ण-भगवान्के गायोंके चरानेके समयके विरहका वर्णन गोपियोंने दो-दो श्लोकोंमें एक साथ किया है, जिससे उसे 'युगलगीत' अथवा 'युग्मश्लोकी गीत' कहते हैं। इस गीतका भाव भी प्रेमसे पगा हुआ है, जो अवश्य मननीय है। यह गीत भागवताङ्कके पृष्ठ ७५२–५५ पर छपा है, जिसे देखनेसे अनुपम आनन्दका अनुभव होगा।

४. भ्रमरगीत

अक्रूरजीके आनेपर भगवान् मथुरा पधार जाते हैं, जिससे गोपियोंका विरह, अत्यन्त तीव्र एवं असह्य हो जाता है। उनको सान्त्वना देनेके लिये भगवान् अपने सखा और सेवक उद्धवजीको अपना सन्देश देकर और दूत बनाकर भेजते हैं। उद्धवजीको देख और उनको अपने कपटी मित्र श्रीकृष्णका दूत जानकर गोपियाँ किसी भ्रमर (भौंरे) के मिषसे उनको जो सूखी-सूखी बातें सुनाती हैं, उनका वर्णन जिस गीतमें किया गया है उसे 'भ्रमरगीत' कहते हैं। यह गोपियोंकी विरह-दशाका चित्र है, जिसे देखकर उद्धवजीको भी आश्चर्यान्वित और हताश होना पड़ा। गोपियाँ तो भगवान्के अतुल और अनुपम प्रेममें पगी हुई थीं, जिसके कारण उद्धवजीका दिया शुष्क वेदान्तज्ञान उनके लिये निरर्थक और असफल सिद्ध हुआ। यह भ्रमरगीत भागवताङ्कके पृष्ठ ७९१–९३ पर छपा है, जिसे वहाँ देख लिया जावे।

५. महिषीगीत

आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रभगवान्का अवतार धर्मकी स्थापना, सत्पुरुषोंकी रक्षा, दुष्टोंको दण्ड, भक्तजनोंकी मुक्ति, ज्ञानके उपदेश, आदर्श धर्माचरण आदि सत्कर्मोंके लिये हुआ था। गृहस्थ-धर्मके पालनके लिये उनके सोलह हजार एक सौ साठ रानियाँ थीं, जो भगवान्की अनेक प्रकारसे सेवा करती थीं—यथा चरण चाँपना, पंखा झलना, स्नान कराना, चन्दन घिसना, चन्दन चरचना, कपड़े पहनाना, धूप जलाना, दीपक करना, भोजन बनाना, भोजन परोसना, भोजन कराना, जलसेवा करना, हाथ धुलाना, ताम्बूल बनाना, ताम्बूल भेंट करना, काच दिखाना, शय्या सँवारना, गान करना, स्तुति करना आदि-आदि। इस प्रकार आन्तरिक प्रेमपूर्वक भगवान्की सेवा करनेसे उन भाग्यशालिनी रानियोंकी एक प्रकारकी उग्र तपस्याकी साधना होती थी। जो रानियाँ जगद्गुरु श्रीकृष्णभगवान्-की पतिरूपसे सदा सेवा किया करती थीं, उनकी तपस्याका क्या कहना है! वे सदा-सर्वदा भगवान्के प्रेममें पगी रहती थीं और दिव्य भगवत्क्रीडामें नित्य नियमपूर्वक भाग लेती थीं और भगवान्के लीला-विहारके अनवरत आनन्दका उपभोग करनेसे वे कृष्णप्रियतमाएँ सदा भगवत्सङ्गके अमूल्य लाभसे बड़ी प्रसन्न रहती थीं और अपने सद्भाग्यको सराहती थीं। वे कामिनियाँ भगवान्की लीला, गति, वाणी, तिरछी चितवन, बाँकी झाँकी, मन्द मुसकान, परिहासोक्तियाँ, ठठोलियाँ, विलास, आलिङ्गन, रमण आदिके सुखसे हर समय मतवाली रहती थीं। इन रानियोंका प्रेम व्रजसुन्दरियोंसे कभी कम नहीं था। इसीसे वे भी गोपियोंकी भाँति सदा प्रेम-दिवानी रहा करती थीं। वे कृष्णप्राण रानियाँ सदा भगवान्का ही चिन्तन करनेसे कृष्णमय होनेका आनन्द अनुभव करती थीं। इनका परस्परका आलाप गोपियोंके समान ही प्रेमालाप हुआ करता था। इसी आलापको 'महिषीगीत' कहते हैं। यह गीत भी उसी प्रकार कृष्ण-प्रेमसे सना हुआ है, जिस प्रकार गोपियोंका गोपी-गीत है—जिसका आनन्द असल गीतके पठनसे ही आ सकता है, जो इस भागवताङ्कके पृष्ठ ९२९-३० पर छपा है। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनुमान्‌जी शर्मा)

[भाग १५ के पृष्ठ १६५७ से आगे]

(७)

(आश्विनके व्रत)

कृष्णपक्ष (महालय)

(१) पितृव्रत (कर्मकाण्डमार्गप्रदीप)—शास्त्रोंमें मनुष्योंके लिये देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण—ये तीन ऋण बतलाये गये हैं। इनमें श्राद्धके द्वारा पितृ-ऋणका उतारना आवश्यक है। क्योंकि जिन माता-पिताने हमारी आयु, आरोग्य और सुख-सौभाग्यादिकी अभिवृद्धिके लिये अनेक यत्न या प्रयास किये उनके ऋणसे मुक्त न होनेपर हमारा जन्मग्रहण करना निरर्थक होता है। उनके ऋण उतारनेमें कोई ज्यादा खर्च हो, सो भी नहीं है; केवल वर्षभरमें उनकी मृत्यु-तिथिको सर्वसुलभ जल, तिल, यव, कुश और पुष्प आदिसे उनका श्राद्ध सम्पन्न करने और गोग्रास देकर एक या ३, ५ आदि ब्राह्मणोंको भोजन करा देने मात्रसे ऋण उतर जाता है; अतः इस सरलतासे साध्य होनेवाले कार्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसके लिये जिस मासकी जिस तिथिको माता-पिता आदिकी मृत्यु हुई हो उस तिथिको श्राद्धादि करनेके सिवा, आश्विन कृष्ण (महालय) पक्षमें भी उसी तिथिको श्राद्ध-तर्पण-गोग्रास और ब्राह्मणभोजनादि करना-कराना आवश्यक है; इससे पितृगण प्रसन्न होते हैं और हमारा सौभाग्य बढ़ता है। पुत्रको चाहिये कि वह माता-पिताकी मरण-तिथिको मध्याह्न-कालमें पुनः स्नान करके श्राद्धादि करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन करे। जिस स्त्रीके कोई पुत्र न हो, वह स्वयं भी अपने पतिका श्राद्ध उसकी मृत्युतिथिको कर सकती है। भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमासे प्रारम्भ करके आश्विन कृष्ण अमातक १६ दिन पितरोंका तर्पण और विशेष तिथिको श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे 'पितृव्रत' यथोचितरूपमें पूर्ण होता है।

(२) संकष्टचतुर्थी (पूर्वागत)—आश्विन कृष्ण चतुर्थीको व्रत हो और उसी दिन माता-पिता आदिका श्राद्ध हो तो दिनमें श्राद्ध करके ब्राह्मणोंको भोजन करा दे और अपने हिस्सेके भोजनको सूँघकर गौको खिला दे। रात्रिमें चन्द्रोदयके बाद स्वयं भोजन करे। इस व्रतकी कथाका यह सार है कि एक बार बाणासुरकी पुत्री ऊषाको स्वप्नमें कृष्ण-पौत्र अनिरुद्धका दर्शन हुआ। ऊषाको उनके प्रत्यक्ष दर्शनकी अभिलाषा हुई और उसने चित्रलेखाके द्वारा अनिरुद्धको अपने घर मँगा लिया। इससे अनिरुद्धकी माताको बड़ा कष्ट हुआ। इस संकटको टालनेके लिये माताने व्रत किया, तब इस व्रतके प्रभावसे ऊषाके यहाँ छिपे हुए अनिरुद्धका पता लग गया और ऊषा तथा अनिरुद्ध द्वारका आ गये।

(३) पुत्रीय व्रत (हेमाद्रि)—आश्विन कृष्ण अष्टमीको प्रातः स्नानादि करके वासुदेवका पूजन करे। घी और खीरकी आहुति दे और जिस स्त्रीको पुत्रकी कामना हो, वह पुरुष नामके—केले, अमरूद, सीताफल और खरबूजा आदि और जिसको कन्याकी कामना हो, वह स्त्री-नामके—नारंगी, अनार, कमरख और जामुन आदिका एक बार भोजन करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेसे पुत्र होता है। इसी तिथिको 'जीवत्पुत्रिकाव्रत' भी किया जाता है। इस व्रतका आचरण पुत्रकी जीवन-रक्षाके उद्देश्यसे होता है।

(४) कृष्णैकादशी (ब्रह्मवैवर्तपुराण)—आश्विन कृष्ण एकादशीका नाम 'इन्दिरा' है, इसके व्रतसे सब प्रकारके पाप दूर होते हैं। इसके निमित्त प्रातः स्नानादि करके उपवास करे और हरिस्मरणमें लगे रहकर रातभर जगे। यदि इस दिन पिता आदिका श्राद्ध हो और उपवासके कारण श्राद्धीय अन्नके ग्रहण करनेमें सङ्कोच हो तो उसे सूँघकर गौको खिला दे और पारणके पश्चात् भोजन करे।

(५) संन्यासीय श्राद्ध (मदनपारिजातमें वायु-पुराणका वचन)—पुत्रको चाहिये कि उसका पिता यदि यति (संन्यासी) या वनवासी हो तो आश्विन कृष्ण द्वादशीको उसके निमित्त श्राद्ध करे।*

---

*यतीनां च वनस्थानां वैष्णवानां विशेषतः।
द्वादश्यां विहितं श्राद्धं कृष्णपक्षे विशेषतः॥
(पृथ्वीचन्द्रोदये संग्रहे)

(६) पितृश्राद्ध (हेमाद्रि)—आश्विन कृष्ण त्रयोदशीको पितृश्राद्ध करके पितरोंको तृप्त करे तो सब प्रकारके सुख प्राप्त हों। यदि उसके पुत्र हो तो अपिण्ड श्राद्ध करे।

(७) प्रदोषव्रत (पूर्वागत)—प्रत्येक त्रयोदशीमें होनेवाले इस व्रतको आश्विन कृष्ण त्रयोदशीको प्रदोषकालमें करे।

(८) दुर्मरणश्राद्ध (मरीचि) जो मनुष्य तिर्यग्योनि (कुत्ता आदि) के काटने और विष-शस्त्रादिके घातसे मरे हों या ब्रह्मघाती हुए हों उनका आश्विन कृष्ण १४ को श्राद्ध करनेसे उनकी तृप्ति होती है।

शुक्लपक्ष

(१) अशोकव्रत (भविष्योत्तर)—आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको नवीन पल्लवोंवाले अशोकवृक्षके समीप सप्तधान्य, गेहूँके गुणे, मोदक, अनार आदि ऋतुफल और पुष्पादि चढ़ाकर यथाविधि पूजन करे और 'अशोक शोकशमनो भव सर्वत्र नः कुले' से अर्घ्य देकर उसे उत्तम वस्त्रोंसे ढककर पताकादि लगाये तो व्रतवती स्त्रीके सब शोक नष्ट हो जाते हैं। जिस समय जनकनन्दिनी सीताने लंकाकी अशोक-वाटिकामें यह व्रत किया था, उस समय उसके सब शोक दूर हो गये थे।

(२) नवरात्र-व्रत (देवीभागवतादि)—ये आश्विन शुक्ल प्रतिपदासे नवमीपर्यन्त होते हैं। इनका आरम्भ अमा-युक्त प्रतिपदामें वर्जित है और द्वितीयायुक्त प्रतिपदामें शुभ है। नव रात्रियोंतक व्रत करनेसे 'नवरात्र' व्रत पूर्ण होता है; तिथिकी ह्रास-वृद्धिसे इनमें न्यूनाधिकता नहीं होती। प्रारम्भके समय यदि चित्रा नक्षत्र और वैधृति हों तो उनके उतरनेके बाद व्रतका प्रारम्भ होना चाहिये। परन्तु देवीका आवाहन, स्थापन और विसर्जन—ये तीनों प्रातःकालमें होते हैं; अतः यदि चित्रादि अधिक समयतक हों तो उसी दिन अभिजित् मुहूर्तमें आरम्भ करना चाहिये। वैसे तो वासन्ती नवरात्रोंमें विष्णुकी और शारदीय नवरात्रोंमें शक्तिकी उपासनाका प्राधान्य है ही; किन्तु ये दोनों ही बहुत व्यापक हैं, अतः दोनोंमें दोनोंकी उपासना होती है। इनमें किसी वर्ण, विधान या देवादिकी भिन्नता नहीं है; सभी वर्ण अपने अभीष्टकी उपासना करते हैं। यदि नवरात्रपर्यन्त व्रत रखनेकी सामर्थ्य न हो तो (१) प्रतिपदासे सप्तमीपर्यन्त 'सप्तरात्र'; (२) पञ्चमीको एकभुक्त, षष्ठी-को नक्तव्रत, सप्तमीको अयाचित, अष्टमीको उपवास और नवमीके पारणसे 'पञ्चरात्र'; (३) सप्तमी, अष्टमी और नवमीके एकभुक्त व्रतसे 'त्रिरात्र'; (४) आरम्भ और समाप्तिके दो व्रतोंसे 'युग्मरात्र' और (५) आरम्भ या समाप्तिके एक व्रतसे 'एकरात्र' के रूपमें जो भी किये जायँ, उन्हींसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। आरम्भमें शुभस्थानकी मृत्तिकासे वेदी बनाकर उसमें जौ, गेहूँ बोये। उनपर यथा-सामर्थ्य सुवर्णादिका कलश स्थापित करे। और कलशपर सोना, चाँदी, ताँबा, मृत्तिका, पाषाण या चित्रमय मूर्तिकी प्रतिष्ठा करे। मूर्ति यदि मिट्टी, कागज या सिन्दूर आदिकी हो और स्नानसे उसके नष्ट हो जानेका डर हो तो या तो उस-पर दर्पण लगा देना चाहिये या खड्गादिको उसमें परिणत करना चाहिये। मूर्ति न होनेकी अवस्थामें कलशके पीछेको स्वस्तिक और उसके युग्मपार्श्वमें त्रिशूल बनाकर दुर्गा-का तथा चित्र, पुस्तक या शालग्रामादिको विराजमान कर विष्णुका पूजन करे। पूजा राजसी, तामसी और सात्त्विकी—तीन प्रकारकी होती है; इनमें सात्त्विकीका सर्वाधिक प्रचार है। नवरात्र-व्रत आरम्भ करते समय सर्वप्रथम गणपति, मातृका, लोकपाल, नवग्रह और वरुणका पूजन, स्वस्तिवाचन और मधुपर्क ग्रहण करके प्रधान मूर्तिकी—जो राम-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण या शक्ति, भगवती, देवी आदि किसी भी अभीष्ट देव-की हो—वेदविधि या पद्धतिक्रमसे अथवा अपने साम्प्रदायिक विधानसे पूजा करे। देवीके नवरात्रमें महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वतीका पूजन तथा सप्तशतीका पाठ मुख्य है। यदि पाठ करना हो तो देवतुल्य पुस्तकका पूजन करके १, ३, ५ आदि विषम संख्याके पाठ करने चाहिये और पाठमें विशेष ब्राह्मण हों तो उनकी संख्या भी १, ३, ५ आदि विषम ही होनी चाहिये। फलसिद्धिके लिये १, उपद्रव-शान्तिके लिये ३, सामान्यतः सब प्रकारकी शान्तिके लिये ५, भयसे छूटनेके लिये ७, यज्ञफलकी प्राप्तिके लिये ९, राज्यके लिये ११, कार्यसिद्धिके लिये १२, किसीको वशमें करनेके लिये १४, सुख-सम्पत्तिके लिये १५, धन और पुत्रके लिये १६, शत्रु, रोग और राजाके भयसे छूटनेके लिये १७, प्रियकी प्राप्तिके लिये १८, बुरे ग्रहोंके दोषकी शान्तिके लिये २०, बन्धनसे मुक्त होनेके लिये २५ और मृत्युके भय, व्यापक उपद्रव तथा देशको नाश आदिसे बचानेके लिये और असाध्य वस्तुकी सिद्धि एवं लोकोत्तर लाभके लिये आवश्यकतानुसार सौ, हजार, दस हजार और लाख पाठतक करने चाहिये। देवी-व्रतोंमें 'कुमारीपूजन' परमावश्यक माना गया है। यदि

सामर्थ्य हो तो नवरात्रपर्यन्त और न हो तो समाप्तिके दिन कुमारीके चरण धोकर उसकी गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करके मिष्टान्न भोजन कराना चाहिये। एक कन्याके पूजनसे ऐश्वर्यकी; दोसे भोग और मोक्षकी; तीनसे धर्म, अर्थ, कामकी; चारसे राज्यपदकी; पाँचसे विद्याकी; छःसे षट्कर्मसिद्धि; सातसे राज्यकी; आठसे सम्पदाकी और नौसे पृथ्वीके प्रभुत्वकी प्राप्ति होती है। २ वर्षकी लड़की कुमारी, ३ की त्रिमूर्तिनी, ४ की कल्याणी, ५की रोहिणी, ६की काली, ७की चण्डिका, ८की शाम्भवी, ९की दुर्गा और १०की सुभद्रास्वरूप होती है। इससे अधिक उम्रकी कन्याको कुमारीपूजामें नहीं सम्मिलित करना चाहिये।* दुर्गापूजामें प्रतिपदाको केशके संस्कार करनेवाले द्रव्य—आँवला और सुगन्धित तैल आदि; द्वितीयाको बाल बाँधनेके लिये रेशमी डोरी; तृतीयाको सिन्दूर और दर्पण; चतुर्थीको मधुपर्क, तिलक और नेत्राञ्जन; पञ्चमीको अङ्गराग और अलङ्कार तथा षष्ठीको फूल आदि समर्पण करे। सप्तमीको गृहमध्यपूजा, अष्टमीको उपवासपूर्वक पूजन, नवमीको महापूजा और कुमारीपूजा तथा दशमीको नीराजन और विसर्जन करे। इसी प्रकार राम-कृष्णादिके नवरात्रमें स्तोत्र-पाठ या लीलाप्रदर्शन आदि करे। यह उल्लेख दिग्दर्शनमात्र है, अतः विशेष बातें ग्रन्थान्तरोंसे जाननी चाहिये। इस प्रकार नौ दिनोंतक नवरात्र करके दशमीको दशांश हवन, ब्राह्मणभोजन और व्रतका विसर्जन करे।

(३) पुण्यप्रदा (स्कन्दपुराण)—आश्विन शुक्ल द्वितीयाको किसी भी प्रकारका दान देकर व्रत करनेसे अनन्त फल होता है।

(४) सिन्दूरतृतीया (दुर्गाभक्तितरङ्गिणी)—आश्विन शुक्ल तृतीयाको चम्पाके तेलमें मिले हुए सिन्दूरसे देवीके केश-पाशके मध्यभागको चर्चित कर दर्पण दिखाये, तो देवीकी पूजा सम्पन्न होती है।

(५) रथोत्सवचतुर्थी (दुर्गाभक्तितरङ्गिणी)—आश्विन शुक्ल चतुर्थीको भगवतीका पूजन और जागरण करके उन्हें सजे हुए रथमें विराजमान करे और नगरमें भ्रमण कराके पुनः स्थापित करे।

(६) शान्तिपञ्चमी (हेमाद्रि)—आश्विन शुक्ल पञ्चमीको प्रातः स्नानादिके पश्चात् वेदी या चौकीपर सफेद वस्त्र बिछाकर हरी और कोमल कुशके १२ नाग और एक इन्द्राणी बनाकर उसपर स्थापित करे। इन्द्राणीको जलसे और नागोंको घी, दूध और जल—तीनोंसे स्नान करावे। गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और अनेक प्रकारके नागोंका ध्यान करके 'नागाः प्रीता भवन्तीह शान्तिमाप्नोति वै विभो। स शान्तिलोकमासाद्य मोदते शाश्वतीः समाः।' से प्रार्थना करके 'ॐ कुरु कुल्ल्यं हुं फट् स्वाहा' के १२ हजार जप करे। इस प्रकार उक्त कुश-निर्मित बारह नागोंमें आश्विनमें अनन्त, कार्तिकमें वासुकि, मार्गशीर्षमें शंख, पौषमें पद्म, माघमें कम्बल, फाल्गुनमें कर्कोटक, चैत्रमें अश्वतर, वैशाखमें शङ्खपाल, जेष्ठमें कालिय, आषाढ़में तक्षक, श्रावणमें पिङ्गल और भाद्रपदमें महानागका पूजन करे। इससे सर्पादिका भय दूर हो जाता है, सब प्रकारकी शान्ति बढ़ती है और उक्त मन्त्रसे सर्पविष रुक जाता है।

(७) उपाङ्गललिताव्रत (कृत्यरत्नावली)—यह आश्विन शुक्ल पञ्चमीको किया जाता है। इसमें रात्रिव्यापिनी तिथि ली जाती है। व्रतीको चाहिये कि उस दिन अपामार्ग (ऊँगा) के २१ दतून लेकर 'आयुर्बलमिदम्०' से एक-एक दतून करके स्नान करे और सफेद वस्त्र पहनकर सुवर्ण-मयी उपाङ्गललिताका यथाप्राप्त उपचारोंसे पूजन करे। रात्रिमें चन्द्रोदय होनेपर उसे अर्घ्य दे करके नक्तव्रत कर दूसरे दिन देवीका विसर्जन करे। इस व्रतकी महाराष्ट्र देशमें विशेष प्रसिद्धि है।

(८) विल्वनिमन्त्रण (हेमाद्रि)—आश्विन शुक्ल षष्ठी-को प्रातःकृत्यादि करके देवीका पूजन करे। और यदि ज्येष्ठा हो तो उनकी पूजाके लिये विल्ववृक्षका निमन्त्रण करे।

(९) बिल्वसप्तमी (हेमाद्रि)—यदि आश्विन शुक्ल सप्तमीको मूल नक्षत्र हो (या न हो तो भी) पूर्वनिमन्त्रित बिल्ववृक्षकी दो फल लगी हुई शाखा लेकर देवीके समीप रक्खे और उनके सहित देवीका पूजन करे। इसमें सूर्योदय-संयुक्त परा तिथि ली जाती है।

(१०) सरस्वतीशयनसप्तमी—(वीरमित्रोदय) आश्विन शुक्ल सप्तमीसे नवमीपर्यन्त सरस्वतीका शयनव्रत किया जाता है। एतन्निमित्त सप्तमीको पुस्तकादिका पूजन करके सरस्वतीका शयन करायें, व्रतमें रहे और पठन-पाठन एवं लिखना-लिखाना बंद रक्खे और सप्तमी (के मूल) से दशमी (के श्रवण) पर्यन्त पुस्तकादिका पूजन करता रहे। पूजनमें सरस्वतीकी स्वर्णमयी, शिलामयी या चित्रमयी जैसी

---

* अत ऊर्ध्वं तु याः कन्याः सर्वकार्येषु वर्जिताः।
(स्कन्दपुराण)

भी मूर्ति हो वह चार भुजावाली, सर्वाभरणविभूषित, दो दायें हाथोंमें पुस्तक और रुद्राक्ष और दो बायें हाथोंमें वीणा और कमण्डलु धारण किये हुए समान रूपमें विराजी हुई हो—इस प्रकारका ध्यान करे।

(११) महाष्टमी (दुर्गोत्सवभक्तितरङ्गिणी, देवी-पुराणादि)—आश्विन शुक्ल अष्टमीको देवीकी उपासनाके अनेक अनुष्ठान होते हैं, इस कारण यह महाष्टमी मानी जाती है। इसमें सप्तमीका वेध वर्जित और नवमीका ग्राह्य होता है। इस दिन देवी शक्ति धारण करती हैं। और नवमीको पूजा समाप्त होती है; अतएव सप्तमीवेधसंयुक्त महाष्टमीको पूजनादि करनेसे पुत्र, स्त्री और धनकी हानि होती है। यदि अष्टमी मूलयुक्त और नवमी पूर्वाषाढ़ायुक्त हो अथवा दोनोंसे युक्त हो, तो वह महानवमी होती है। यदि सूर्योदयके समय अष्टमी और सूर्यास्तके समय नवमी हो और भौमवार हो, तो यह योग अधिक श्रेष्ठ होता है। महाष्टमीके प्रातःकालमें पवित्र होकर भगवती-की वस्त्र, शस्त्र, छत्र, चामर और राजचिह्नादिसहित पूजा करे। यदि उस समय भद्रा हो तो सायङ्कालके समय करे। और अर्द्धरात्रिमें बलिप्रदान करे। कई स्थानोंमें इस दिन 'अखिलकारिणी' (खिलगानी) देवीका पूजन किया जाता है। वह भद्रावर्जित सायङ्काल या प्रातःकाल किसीमें भी किया जा सकता है। उसमें त्रिशूलमात्रकी पूजा होती है।

(१२) महानवमी (हेमाद्रि, देवीभागवत)—आश्विन शुक्ल नवमीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म शीघ्र समाप्त करके 'उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु चण्डिके। तेन प्रीता भव त्वं भोः संसारात्त्राहि मां सदा ॥' इस मन्त्रसे व्रत करनेकी भावना भगवतीके सम्मुख निवेदन करे। इसके बाद देवी-पूजाके स्थानको ध्वजा, पताका, पुष्पमाला और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके भगवतीका पञ्चदश, षोडश, षट्-त्रिंश या राजोपचारादिमेंसे जो उपलब्ध हो उसी प्रकारसे पूजन करे। अनेक प्रकारके अन्नपानादिका भोग लगाये। और घृतपूर्ण बत्ती या कपूर जलाकर नीराजन करे। इस दिन धराधीशोंको चाहिये कि वे नवीन अश्वोंका पूजन करें। पूजाविधान आगे (दशमीके शस्त्रपूजनमें) दिया गया है। इस दिन पूर्वविद्धा नवमी ली जाती है। यदि इसमें मूल, पूर्वा और उत्तराका (त्रैलोक्यदुर्लभ) सहयोग हो तो यह नवमी बड़े महत्त्वकी मानी जाती है। इसमें अनेक प्रकारके उपहारद्रव्योंसे पूजा की जाय तो महाफल होता है।

(१३) भद्रकालीव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—आश्विन शुक्ल नवमीको वासस्थानके पूर्व भागमें भद्रकालीकी स्थापना करके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और उपवास रक्खे।

(१४) रथनवमी (भविष्यपुराण)—इसी दिन (आ० शु० ९ को) नवीन रथमें आसन बिछाकर महिषा-रूढ महिषघ्नीकी स्वर्णनिर्मित मूर्ति स्थापित करके पूजन करे और रथको राजमार्गोंमें भ्रमण कराकर यथास्थान ले आये और भगवतीका पुनः पूजन करके रथोत्सव-व्रत समाप्त करे।

(१५) शौर्यव्रत (ब्रह्मपुराण)—एतन्निमित्त आश्विन शुक्ल सप्तमीको संकल्प करे। अष्टमीको निरुदक (अन्न-पानादि-वर्जित) उपवास रक्खे और नवमीको भगवतीकी भक्ति-सहित उपासना करके 'दुर्गां देवीं महामायां महाभागां महा-प्रभाम् ।' से प्रार्थना करके यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराये और स्वयं पिसे हुए सत्तूका पान करके व्रत करे।

(१६) नवरात्रसमाप्ति (देवीभागवत)—आश्विन-शुक्ल दशमीके प्रातःकालमें भगवतीका यथाविधि पूजन करके नीराजन करे। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' से पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। 'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं यदर्चितम्। पूर्णं भवतु तत् सर्वं त्वत्प्रसादान्महेश्वरि ॥' से क्षमा-प्रार्थना करके 'ॐ दुर्गायैः नमः' कहकर एक पुष्प ईशानमें छोड़ दे और 'गच्छ गच्छ परं स्थानं स्वस्थानं देवि चण्डिके। व्रतस्रोतो जलं वृद्ध्यै तिष्ठ गेहे च भूतये ॥' से कलशस्थ देवमूर्ति आदि को उठाकर यथास्थान स्थापित करे। यदि मूर्ति मृत्तिका आदिकी हो और यव-गोधूमके जुआरा हों तो उनको गायन-वादनके साथ समीपके जलाशयपर ले जाकर 'दुर्गे देवि जगन्मातः स्वस्थानं गच्छ पूजिते। षण्मासेषु व्यतीतेषु पुनरागमनाय वै ॥ इमां पूजां मया देवि यथा-शक्त्योपपादिताम् । रक्षार्थं त्वं समादाय व्रज स्वस्थान-मुत्तमम् ॥' इन मन्त्रोंसे मूर्तिका विसर्जन करके जलमें प्रवेश कराये और जुआरा आदि जलमें डाल दे। इस विषयमें 'मत्स्यसूक्त' का यह आदेश है कि—'देवे दत्त्वा तु दानानि देवे दद्याच्च दक्षिणाम्। तत् सर्वं ब्राह्मणे दद्यादन्यथा विफलं भवेत् ॥' नवरात्रादिके अवसरमें स्थापित देवताके जो कुछ फल-पुष्प-नैवेद्य अथवा उपहारादि अर्पण किया हो वह ब्राह्मणको देना चाहिये, अन्यथा विफल होता है।

(१७) विजयादशमी (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)-आश्विन शुक्ल दशमीको श्रवणका सहयोग होनेसे विजया-दशमी होती है। इस दिन राज्यवृद्धिकी भावना और विजय-

प्राप्तिकी कामनावाले राजा 'विजयकाल' में प्रस्थान करते हैं। 'ज्योतिर्निबन्ध' में लिखा है कि 'आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां तारकोदये। स कालो विजयो ज्ञेयः सर्वकार्यार्थसिद्धये॥' आश्विन शुक्ल दशमीके सायङ्कालमें तारा उदय होनेके समय 'विजयकाल' रहता है। वह सब कामोंको सिद्ध करता है। आश्विन शुक्ल दशमी पूर्वविद्धा निषिद्ध, परविद्धा शुद्ध और श्रवणयुक्त सूर्योदयव्यापिनी सर्वश्रेष्ठ होती है। राजाओंको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि नित्य कर्मसे निश्चिन्त होकर 'मम क्षेमारोग्यादिसिद्ध्यर्थं यात्रायां विजयसिद्ध्यर्थं गणपतिमातृकामार्गदेवतापराजिताशमीपूजनानि करिष्ये।' यह सङ्कल्प करके उक्त सभी देवताओं, अस्त्र-शस्त्राश्वादिकों और पूजनीय गुरुजन आदिका यथाविधि* पूजन करके सुसज्जित अश्वपर आरूढ होकर अपराह्णमें गज, तुरग, रथराज्यैश्वर्यादिसहित यात्रा करके स्वपुरसे बाहर ईशान कोणमें शमी (जाँटी या खेजड़ा) और अश्मन्तक (कोविदार या कचनार) के समीप अश्वसे उतरकर शमीके मूलकी

* शस्त्रादीनां पूजनविधिः—ततो राजा 'गणेशाय नमः' इति नाममन्त्रेण आवाहनादिषोडशोपचारैः सम्पूज्य एवं मातृकादीनां पितृदेवादीनां च सम्यक् पूजनं विधाय ततः 'छत्राय नमः' इत्यादिमन्त्रेण गन्धादिभिः सम्पूज्य—

यथाम्बुदश्छादयति शिवायेमां वसुन्धराम्।
तथा छादय राजानं विजयारोग्यवृद्धये॥

—इति पठेत्। एवं चामरादीनामपि पूजनं कुर्यात्। तेषां प्रार्थनामन्त्रान् एवं पठेत्। चामरमन्त्रः—

शशाङ्ककरसंकाशक्षीरडिण्डीरपाण्डुर।
प्रोत्सारयाशु दुरितं चामरामरदुर्लभ॥

खड्गमन्त्रः—

असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मधारस्तथैव च।
इत्यष्टौ तव नामानि स्वयमुक्तानि वेधसा।
नक्षत्रं कृत्तिका ते तु गुरुर्देवो महेश्वरः॥
हिरण्यं च शरीरं ते धाता देवो जनार्दनः।
पिता पितामहो देवस्त्वं मां पालय सर्वदा॥
नीलजीमूतसंकाशस्तीक्ष्णदंष्ट्रः कृशोदरः।
भावशुद्धोऽमर्षणश्च अतितेजास्तथैव च॥
इयं येन धृता क्षोणी हतश्च महिषासुरः।
तीक्ष्णधाराय शुद्धाय तस्मै खड्गाय ते नमः॥

कटारमन्त्रः—

रक्षाङ्गानि गजान् रक्ष रक्ष वाजिधनानि च।
मम देहं सदा रक्ष कट्टारक नमोऽस्तु ते॥

छुरिकामन्त्रः—

सर्वायुधानां प्रथमं निर्मितासि पिनाकिना।
शूलायुधाद् विनिष्कृष्य कृत्वा मुष्टिग्रहं शुभम्॥
चण्डिकायाः प्रदत्तासि सर्वदुष्टनिबर्हिणी।
तया विस्तारिता चासि देवानां प्रतिपादिता॥
सर्वसत्त्वाङ्गभूतासि सर्वाशुभनिबर्हिणी।
छुरिके रक्ष मां नित्यं शान्तिं यच्छ नमोऽस्तु ते॥

कवचमन्त्रः—

शर्मप्रदस्त्वं समरे वर्म सर्वायशो नुद।
रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तापनेय नमोऽस्तु ते॥

चर्ममन्त्रः—

चण्डिकायाः प्रदत्तं त्वं सर्वदुष्टनिबर्हणम्।
त्वया निस्तारिता देवाः सुप्रतिष्ठं पितामहैः॥
अतस्त्वयि बलं सर्वं विन्यस्तं देवसत्तमैः।
तस्मादायोधने रक्ष शत्रून् नाशय सर्वदा॥

चापमन्त्रः—

सर्वायुधमहामात्र सर्वदेवारिसूदन।
चाप मां समरे रक्ष साकं शरवरैरिह॥
धृतः कृष्णेन रक्षार्थं संहाराय हरेण च।
त्रयीमूर्तिगतं देवं धनुरस्त्रं नमाम्यहम्॥

शक्तिमन्त्रः—

शक्तिस्त्वं सर्वदेवानां गुहस्य च विशेषतः।
शक्तिरूपेण देवि त्वं रक्षां कुरु नमोऽस्तु ते॥

कुन्तमन्त्रः—

प्रास पातय शत्रूंस्त्वमनया नाकमायया।
गृहाण जीवितं तेषां मम सैन्यं च रक्षय॥

अग्नियन्त्रमन्त्रः—

अग्निशस्त्र नमस्तेऽस्तु दूरतः शत्रुनाशन।
शत्रून् दह हि शीघ्रं त्वं शिवं मे कुरु सर्वदा॥

पाशमन्त्रः—

पाश त्वं नागरूपोऽसि विषपूर्णो विषोद्भवः।
शत्रवो हि त्वया बद्धा नागपाश नमोऽस्तु ते॥

परशुमन्त्रः—

परशो त्वं महातीक्ष्ण सर्वदेवारिसूदन।
देवीहस्तस्थितो नित्यं शत्रुक्षय नमोऽस्तु ते॥

भूमिका जलसे प्रोक्षण करे और पूर्व या उत्तर मुख बैठकर पहले शमीका और फिर अश्मन्तकका पूजन करे और 'शमी शमय मे पापं शमी लोहितकण्टका । धारिण्यर्जुनबाणानां रामस्य प्रियवादिनी ॥ करिष्यमाणयात्रायां यथाकालं सुखं मम । तत्र निर्विघ्नकर्त्री त्वं भव श्रीरामपूजिते ॥' इन मन्त्रोंसे शमीकी और 'अश्मन्तक महावृक्ष महादोषनिवारक । इष्टानां दर्शनं देहि शत्रूणां च विनाशनम् ॥' इससे अश्मन्तक-की प्रार्थना करके शमीके अथवा अश्मन्तकके या दोनोंके पत्ते लेकर उनमें पूजास्थानकी थोड़ी-सी मृत्तिका और कुछ तण्डुल तथा एक सुपारी रखकर कपड़ेमें बाँध लेवे और

ध्वजमन्त्रः—

शक्रकेतो महावीर्य सुपर्णस्त्वय्युपाश्रितः ।
पत्रिराज नमस्तेऽस्तु तथा नारायणध्वज ॥
काश्यपेयारुणभ्रातर्नागारे विष्णुवाहन ।
अप्रमेय दुराधर्ष रणे देवारिसूदन ॥
गरुत्मन् मारुतगतिस्त्वयि संनिहितो यतः ।
साश्वचर्मायुधान् योधान् रक्ष त्वं च रिपून् दह ॥

पताकामन्त्रः—

हुतभुग् वसवो रुद्रा वायुः सोमो महर्षयः ।
नागकिन्नरगन्धर्वयक्षभूतगणग्रहाः ॥
प्रमथास्तु सहादित्यैर्भूतेशो मातृभिः सह ।
शक्रसेनापतिः स्कन्दो वरुणश्चाश्रितस्त्वयि ॥
प्रदहन्तु रिपून् सर्वान् राजा विजयमृच्छतु ।
यानि प्रयुक्तान्यरिभिरायुधानि समन्ततः ॥
पतन्तूपरि शत्रूणां हतानि तव तेजसा ।
हिरण्यकशिपोर्युद्धे युद्धे दैवासुरे तथा ॥
कालनेमिवधे यद्वद् यद्वत् त्रिपुरघातने ॥
शोभितासि तथैवाद्य शोभयास्मांश्च संस्मर ।
नीलां श्वेतामिमां दृष्ट्वा नश्यन्त्वाशु नृपारयः ॥
व्याधिभिर्विविधैर्घोरैः शस्त्रैश्च युधि निर्जिताः ।
सद्यः स्वस्था भवन्त्वस्मास्त्वद्दातेनापमार्जिताः ॥
पूतना रेवती नाम्ना कालरात्रिश्च या स्मृता ।
दहन्त्वाशु रिपून् सर्वान् पताके त्वं मयार्चिता ॥

कनकदण्डमन्त्रः—

प्रोत्सारणाय दुष्टानां साधुसंरक्षणाय च ।
ब्रह्मणा निर्मितश्चासि व्यवहारप्रसिद्धये ॥
यशो देहि सुखं देहि जयदो भव भूपतेः ।
ताडयस्व रिपून् सर्वान् हेमदण्ड नमोऽस्तु ते ॥

दुन्दुभिमन्त्रः—

दुन्दुभे त्वं सपत्नानां घोरो हृदयकम्पनः ।
तथास्तु तव शब्देन हर्षोऽस्माकं मुदावहः ॥
भव भूमिपसैन्यानां तथा विजयवर्धनः ।
यथा जीमूतघोषेण प्रहृष्यन्ति च बर्हिणः ॥
तथास्तु तव शब्देन हर्षोऽस्माकं मुदावहः ।
यथा जीमूतशब्देन स्त्रीणां त्रासोऽभिजायते ।
तथैव तव शब्देन त्रस्यन्त्वस्मद्द्विषो रणे ॥

शङ्खमन्त्रः—

पुण्यस्त्वं शङ्ख पुण्यानां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
विष्णुना विधृतो नित्यमतः शान्तिप्रदो भव ॥

सिंहासनमन्त्रः—

विजयो जयदो जेता रिपुहन्ता शुभङ्करः ।
दुःखहा धर्मदः शान्तः सर्वारिष्टविनाशनः ॥
एते वै सन्निधौ यस्मात्तव सिंहा महाबलाः ।
तेन सिंहासनेति त्वं वेदैर्मन्त्रैश्च गीयसे ॥
त्वयि स्थितः शिवः शान्तस्त्वयि शक्रः सुरेश्वरः ।
त्वयि स्थितो हरिर्देवस्त्वदर्थं तप्यते तपः ॥
नमस्ते सर्वतोभद्र भद्रदो भव भूपतेः ।
त्रैलोक्यजयसर्वस्व सिंहासन नमोऽस्तु ते ॥

अश्वपूजनम्—

तद्दक्षिणकर्णे जपेत् ।

कुलाभिजनजात्या च लक्षणैर्व्यंजनोत्तमैः ।
भर्तारमभिरक्ष त्वं शिवं तव भवेदिति ॥
कशाघातमधिष्ठानं क्षमस्व तुरगोत्तम ।

ततोऽश्वाय भक्ष्यं दत्वा—

अश्वराज पुरोधास्तु विष्णुस्ते पुरतः स्थितः ।
वरुणः पाशहस्तस्त्वां पृष्ठतः परिरक्षतु ॥
वैवस्वतकुबेरौ च पार्श्वयोरभिरक्षताम् ।
चन्द्रादित्यौ पृष्ठवंशे उदरं पृथिवीधरः ॥
रक्षन्तु वक्त्रं गन्धर्वा बलमिन्द्रो ददातु ते ।
हविःशेषमिति प्राश्यं विजयार्थं महीपतेः ॥

कार्यसिद्धिकी कामनासे अपने पास रक्खे। फिर आचार्यादिका आशीर्वाद प्राप्त कर वहाँ ही पूर्व दिशामें विष्णुकी परिक्रमा करके अपने शत्रुके स्वरूपको हृदयमें और उसकी प्रतिकृति (मूर्ति या चित्रादि) को दृष्टिमें रखकर (तोप, बंदूक या) सुवर्णके शरसे उसके हृदयके मर्मस्थलका भेदन करे और खड्गको हाथमें लेकर दक्षिण दिशासे आरम्भ करके वृक्षके समीपकी चारों दिशाओंमें जाकर सब दिशाओंकी विजय करे और शत्रुको जीत लिया है, यह कहे। इसके बाद यथापूर्व नगरमें जाकर प्रवेशद्वारपर नीराजनादि कराकर निवास करे।

(१८) अपराजिता-पूजा (निर्णयामृत)—आश्विन शुक्ल दशमीको प्रस्थान करनेके पहले अपराजिताका पूजन किया जाता है। उसके लिये अक्षतादिके अष्टदलपर मृत्तिकाकी मूर्ति स्थापन करके 'ॐ अपराजितायै नमः' इससे अपराजिताका, (उसके दक्षिण भागमें) 'ॐ क्रियाशक्त्यै नमः' इससे जयाका, (उसके वाम भागमें) 'ॐ उमायै नमः' इससे विजयाका स्थापन करके आवाहनादि पूजन करे और 'चारुणा मुखपद्मेन विचित्रकनकोज्ज्वला। जया देवी भवे भक्ता सर्वकामान् ददातु मे॥ काञ्चनेन विचित्रेण केयूरेण विभूषिता। जयप्रदा महामाया शिवभावितमानसा। विजया च महाभागा ददातु विजयं मम। हरेण सुविचित्रेण भास्वत्कनकमेखला। अपराजिता रुद्ररता करोतु विजयं मम॥' इनसे जया-विजया और अपराजिताकी प्रार्थना करके हरिद्रासे रँगे हुए वस्त्रमें दूब और सरसों रखकर डोरा बनावे। फिर 'सदापराजिते यस्मात्त्वं लतासूत्तमा स्मृता। सर्वकामार्थसिद्ध्यर्थं तस्मात्त्वां धारयाम्यहम्॥' इस मन्त्रसे उसे अभिमन्त्रित करके—'जयदे वरदे देवि दशम्यामपराजिते। धारयामि भुजे दक्षे जयलाभाभिवृद्धये॥' से उक्त डोरेको दाहिने हाथमें धारण करे।

(१९) रावण-वध (व्रतोत्सव)—ऊपर शमी-पूजनके साथमें सूचित किया गया है कि शत्रुकी प्रतिकृति (तत्तुल्य

आचमनं दत्त्वा स्तुतिं पठेत्—

गन्धर्वकुलजातस्त्वं मा भूयाः कुलदूषकः।
ब्रह्मणः सत्यवाक्येन सोमस्य वरुणस्य च॥
प्रभावाच्च हुताशस्य वर्धय त्वं तुरङ्ग माम्।
तेजसा चैव सूर्यस्य मुनीनां तपसा तथा॥
रुद्रस्य ब्रह्मचर्येण पवनस्य बलेन च।
स्मर त्वं राजपुत्रं च कौस्तुभं च मणिं स्मर॥
सुरासुरैर्मथ्यमानक्षीरोदादमृतादिभिः।
जात उच्चैःश्रवाः पूर्वं तेन जातोऽसि तत् स्मर॥
यां गतिं ब्रह्महा गच्छेन्मातृहा पितृहा तथा।
भूमिहानृतवादी च क्षत्रियश्च पराङ्मुखः॥
सूर्याचन्द्रमसौ वायुर्यावत् पश्यति दुष्कृतम्।
व्रजाश्च तां गतिं क्षिप्रं तच्च पापं भवेत्तव॥
विकृतिं यदि गच्छेथा युद्धाध्वनि तुरङ्गम।
विजित्य समरे शत्रून् सह भर्त्रा सुखी भव॥

शिविकामन्त्रः—

महेन्द्रनिर्मिते दिव्ये देवराजादिसेविते।
शिविके रक्ष मां नित्यं सदा त्वं सन्निधौ भव॥
निर्मितासि कुबेरेण या त्वं निद्रासुखार्थिना।
शिविके पाहि मां नित्यं शान्तिं देहि नमोऽस्तु ते॥

रथमन्त्रः—

शस्त्रास्त्रधारणार्थाय निर्मिते विश्वकर्मणा।
रथनेमिस्वनैर्घोरै रिपोर्हृदयकम्पनः॥

गजमन्त्रः—

कुमुदैरावणौ पद्मः पुष्पदन्तोऽथ वामनः।
सुप्रतीकोऽञ्जनो नील एतेऽष्टौ देवयोनयः॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च वनान्यष्टौ समाश्रिताः।
मन्दो भद्रो मृगश्चैव राजा संकीर्ण एव च॥
वने वने प्रसूतास्ते स्मर योनिं महागज।
पान्तु त्वां वसवो रुद्रा आदित्याः समरुद्गणाः॥
भर्तारं रक्ष नागेन्द्र स्वामी च प्रतिपाल्यताम्।
अवाप्नुहि जयं युद्धे गमने स्वस्तितो व्रज॥
श्रीस्ते सोमाद् बलं विष्णोस्तेजः सूर्याज्जवोऽनिलात्।
स्थैर्यं मेरोर्जयं रुद्राद् यशो देवात् पुरन्दरात्॥
युद्धे रक्षन्तु नागास्त्वां दिशश्च सह दैवतः।
अश्विनौ सह गन्धर्वैः पान्तु त्वां सर्वतः सदा॥
इति राजचिह्नादिपूजनविधिः।

मूर्ति या चित्र) बनाकर सुवर्णके शरसे उसके मर्मस्थानका भेदन करे ।

(२०) शुक्लैकादशी (पद्मपुराण)—पापपरायण पुरुषोंके पापोंको वशवर्ती बनानेमें आश्विन शुक्ल एकादशी अङ्कुशके समान है। इसी कारण इसका नाम 'पापाङ्कुशा' प्रसिद्ध हुआ है। यह स्वर्ग और मोक्षको देनेवाली, शरीरको आरोग्य रखनेवाली, सुन्दरी सुशीला स्त्री, सदाचारी पुत्र और सुस्थिर धन देनेवाली है। उस दिन दिनमें भगवान्‌का पूजन और रात्रिमें उनके सम्मुख जागरण करके दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पारण करके व्रतको समाप्त करे।

(२१) पुत्रप्राप्तिव्रत (भविष्योत्तर)—आश्विन शुक्ल एकादशीको स्नान करके उपवास रक्खे और भगवान्‌का पूजन करके रात्रिके समय, दूध देती हुई सवत्सा गौकी पूजा करके दूसरे दिन, दिनभर व्रत रक्खे और रात्रिमें भोजन करे। इस प्रकार इसी (आ० शु०) एकादशीको १२ वर्ष या प्रत्येक महीनेकी शुक्ल द्वादशीको १२ मास व्रत करे और प्रतिमास या प्रतिवर्ष (पहले-दूसरे मास या वर्षके क्रमसे) ?—अपराजित, २—अजातशत्रु, ३—पुराकृत, ४—पुरन्दर, ५—वर्धमान, ६—सुरेश, ७—महाबाहु, ८—प्रभु, ९—विभु, १०—सुभूति, ११—सुमन और १२—सुप्रचेता—इन १२ नामोंसे हरिका स्मरण करे तो देवतुल्य दीर्घायु पुत्र होता है।

(२२) पद्मनाभव्रत (वराहपुराण)—आश्विन शुक्ल द्वादशीको पद्मपर प्रतिष्ठित किये हुए सनातन पद्मनाभका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके जागरण करे और व्रत रक्खे, तो इस व्रतसे अनेक गोदानके समान फल होता है।

(२३) प्रदोषव्रत—आश्विन शुक्ल त्रयोदशीको सूर्यास्तसे पहले स्नान करके यथालब्धोपचारोंसे शिवजीका पूजन करे और रात्रि होनेपर एक बार भोजन करे।

(२४) कोजागरव्रत (कृत्यनिर्णयादि)—आश्विन शुक्ल निशीथव्यापिनी पूर्णिमाको ऐरावतपर आरूढ हुए इन्द्र और महालक्ष्मीका पूजन करके उपवास करे और रात्रिके समय घृतपूरित और गन्ध-पुष्पादिसे सुपूजित एक लाख, ५० हजार, १० हजार, १ हजार या केवल एक सौ दीपक प्रज्वलित करके देवमन्दिरों, बाग-बगीचों, तुलसी-अश्वत्थके वृक्षों, बस्तीके रास्ते, चौराहे, गली और वास-भवनोंकी छत आदिपर रक्खे और प्रातःकाल होनेपर स्नानादि करके इन्द्रका पूजन कर ब्राह्मणोंको घी-शक्कर मिली हुई खीरका भोजन कराके वस्त्रादिकी दक्षिणा और स्वर्णादिके दीपक दे तो अनन्त फल होता है। इस दिन रात्रिके समय इन्द्र और लक्ष्मी पूछते हैं कि 'कौन जागता है ?' इसके उत्तरमें उनका पूजन और दीपज्योतिका प्रकाश देखनेमें आये तो अवश्य ही लक्ष्मी और प्रभुत्व प्राप्त होता है।

(२५) शरत्पूर्णिमा (कृत्यनिर्णयामृत)—इसमें प्रदोष और निशीथ दोनोंमें होनेवाली पूर्णिमा ली जाती है। यदि पहले दिन निशीथव्यापिनी हो और दूसरे दिन प्रदोष-व्यापिनी न हो, तो पहले दिन व्रत करना चाहिये। १—इस दिन काँसीके पात्रमें घी भरकर सुवर्णसहित ब्राह्मणको दे तो ओजस्वी होता है। २—अपराह्णमें हाथियोंका नीराजन करे तो उत्तम फल मिलता है। और ३—अन्य प्रकारके अनुष्ठान करे तो उनकी सफल सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त आश्विन शुक्ल निशीथव्यापिनी पूर्णिमाको प्रभातके समय आराध्यदेवको सुश्वेत वस्त्राभूषणादिसे सुशोभित करके षोडशोपचार पूजन करे और रात्रिके समय उत्तम गोदुग्धकी खीरमें घी और सफेद खाँड मिलाकर अर्द्धरात्रिके समय भगवान्‌के अर्पण करे। साथ ही पूर्ण चन्द्रमाके मध्याकाशमें स्थित होनेपर उसका पूजन करे और पूर्वोक्त प्रकारकी खीरका नैवेद्य अर्पण करके दूसरे दिन उसका भोजन करे।